मामा वरेरकर

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ - रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे है जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत मे लेखन-कला का संभवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

मामा वरेरकर

लेखक

सदा कर्‍हाडे

साहित्य अकादेमी

Mama Warerkar *(मामा वरेरकर)* :
Monograph on Marathi author by Sada Karhade
Sahitya Akademi, New Delhi (2001), Rs. Twenty Five

First Edition : 2001

Published by :
Sahitya Akademi

Head Office :
Rabindra Bhavan, 35, Ferozeshah Road, New Delhi-110 001

Sales Department :
Basement in 'Swati', Mandir Marg, New Delhi-110 001

Regional Offices :
172, M.M.G.S. Marg, Dadar (East), Mumbai-400 014
Jeevan Tara, 23A/44X, Diamond Harbour Road, Kolkata-700 053
Central College Campus, Dr. Ambedkar Veedhi, Bangalore-560 001

Sub Regional Office :
C.I.T. Campus, T.T.T.I. Post, Taramani, Chennai-600 113

ISBN 81-260-1258-7

मूल्य :25 रुपये

Typeset at : Rachana Mudran, 172 M.M.G.S. Marg, Dadar (E), Mumbai-400 014.

Printed at : New Age Printing Press, Prabhadevi, Mumbai-400 025.

अनुक्रम

1

मामा वरेरकर व्यक्तित्व और कृतित्व

मराठी साहित्य का स्वर्णयुग

मामा वरेरकर का नाम लेते ही मराठी साहित्य और मराठी रंगमंच का पूरा एक युग का इतिहास आँखों के सामने मूर्त हो उठता है। आधुनिक मराठी साहित्य का इतिहास ब्रिटिश रियासत में इ.स. 1874 से शुरू हुआ। इसके पूर्व काल में ही अंग्रेजी साहित्य के परिचय तथा अध्ययन के द्वारा मराठी साहित्य में नयी प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओं के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई थी। इ.स. 1874 में विष्णु शास्त्री चिपलुनकर की 'निबंधमाला' नियतकालिक के रूप में शुरू हुई और मराठी साहित्य की परंपरा ने नया मोड लिया। इ.स. 1874 से 1920 तक का कालखंड मराठी साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। देशभक्ति, समाजसुधार और साहित्य की नयी दृष्टी इस स्वर्ण युग की विशेषताएँ मानी जाती है। विष्णु शास्त्री चिपलुनकर, गोपाल गणेश आगरकर, लोकमान्य तिलक, शिवराम महादेव परांजपे जैसे निबंधकार एवं पत्रकार इसी युग के प्रवर्तक है। हरि नारायण आपटे जैसे उपन्यासकार, अण्णासाहब किर्लोस्कर, गोविंद बल्लाल देवल और श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर जैसे नाटककारों ने अपने साहित्य सर्जन से इस स्वर्णयुग को विभूषित किया। कृष्णाजी केशव दामले तथा 'केशवसुत' ने आधुनिक मराठी काव्य की परंपरा इसी युग में आरम्भ की। इसी स्वर्णयुग में मामा वरेरकर की पैदाइश हुई और उनके युगप्रवर्तक साहित्य सर्जन का आरम्भ भी इसी स्वर्णयुग में हुआ। आधुनिक मराठी साहित्य उपन्यास और नाटक की विधाओं का दूसरा कालखण्ड मामा वरेरकर के साहित्य सृजन से ही आरम्भ होता है। यद्यपि दूसरे कालखण्ड की पहचान उपन्यासकार ना. सी. फडके और वि. स. खाण्डेकर के नाम से तथा उनके साहित्य सृजन से दी जाती है, तथापि वास्तव में दूसरे कालखण्ड के प्रमुख शिल्पकार मामा वरेरकर ही हैं। यह दूसरा कालखण्ड 'कला के लिए कला' और 'जीवन के लिए कला' के विवाद का कालखण्ड था। सुधारवादी और जीवनवादी मामा वरेरकर 'जीवन के लिए कला' के पक्षधर थे।

जन्म और शिक्षा

इस युगप्रवर्तक तथा जीवनवादी साहित्य के पक्षधर का जन्म रत्नागिरी जिले के एक छोटे से गाँव में - चिपलून में 27 अप्रैल 1883 में हुआ। उनका पूरा नाम भार्गव विठ्ठल वरेरकर है। उनकी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा मालवण, रत्नागिरी और दापोली में

हुई। किसी तरह उनकी पढाई मैट्रिक तक हो पायी क्यो कि युवा उम्र में ही उन्हें डाक-विभाग में नौकरी करने के लिए बाध्य होना पडा। रत्नागिरी के सिविल अस्पताल में मेडिकल प्युपल के नाते उन्होने कुछ दिन तक काम किया। फिर सन 1899 में रत्नागिरी स्थित डाक-तार विभाग में एक क्लर्क के रूप में उम्र की सोलह साल में ही उन्होंने अपना जीवन आरम्भ किया। इसी नौकरी के दरमियान उन्होंने शीघ्रही नाटककार के रूप में अपना सिक्का जमा लिया। क्लर्क की नौकरी करते हुए प्रतिकूल परिस्थिति में भी उनके मन में यह जबरदस्त आकांक्षा उमड रही थी कि मै एक बडा लेखक बनकर दुनिया के सामने आऊँ। इसीलिए तो वे अल्मोडा के 'रामकृष्ण मिशन' में जाकर स्वामी विवेकानंद से भी मिले थे। नौकरी में उनको विशेष रूचि नहीं थी।

संन्यासी बनने के प्रयास

स्वामी विवेकानंद के प्रति उनको बहुत आदर था। बाल्यकाल में उनसे कोई सवाल करता कि तुम बडे होने पर कौन बनना पसन्द करोगे तब मामा जबाब देते कि मुन्सिफ या ओहरेदार अफसर बनने के बजाय वे संन्यासी बनना ही ज्यादा पसन्द करेंगे। वे पॉच साल के थे तबसे उनके पिताजी के पास आनेवाले संन्यासियों के सान्निध्य का सौभाग्य मामा को प्राप्त हुआ। बाल्यकाल में ही मामा एक साहस कर चुके थे। गौडपादाचार्य के आसन के लिए जो स्नातक लिए जाते थे, उनमें मामा भी एक थे। स्वामी आत्मानंद सरस्वती मामा को चाहते थे। भवानी भट्ट सुखटनकर मामा के गुरू और स्वामीजी के शिष्य थे। पर उनकी माताजी के विरोध करने पर विवश होकर मामा को घर लौटना पडा।

आगे चलकर मामा ने डाक और तार विभाग में नौकरी कर ली। पिताजी ने उनका विवाह तय किया जब कि वे राजी नहीं थे। लेकिन पिताजी अपने हितसंबंधी को वचन दे चुके थे। उनका वादा पूरा करने के लिए मामा को विवश होकर शादी करनी पडी जिसे उन्होंने जिन्दगी की सबसे बडी हार मानी थी। नौकरी की तरह घरगृहस्थी में भी उन्हें बिल्कुल रूचि नहीं थी।

डाक्टर का सर्टिफिकेट लेकर मामा ने छुट्टी ली और वे घर से भाग निकले। मामा के मित्र के बन्धु नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर के पुजारी थे। मित्र के साथ मामा नेपाल गये। लेकिन कुछ कारणवश उनको नेपाल से भी भागना पडा। स्वामी विवेकानंद के सहकारी स्वामी तुरियानन्द और स्वामी स्वरूपानंद के साथ मामा भारत लौट आये। तब स्वामी विवेकानंद अल्मोडा में थे। पटना से होकर मामा अल्मोडा पहुँचे। बहुत दिनों की दिल तमन्ना पूरी हुई। अल्मोडा आश्रम में संन्यासियों के मेले में मामा आराम का जीवन बिताने लगे थे। स्वामी तुरियानंद और स्वामी स्वरूपानंद जैसे संन्यासियों के साथ चार विदेशी महिलाएँ भी आश्रम में रहती थीं जो स्वामीजी की शिष्याएँ थीं। भिक्षुणी मार्गरिट नोबल जिन्हें आगे चलकर भगिनी निवेदिता के नाम से संसार में ख्याति प्राप्त हुई - वे भी इसी आश्रम में रहती थीं।

संन्यासी बनने की मामा की महत्त्वाकांक्षा थी। शिकागो में सर्वधर्म परिषद हुई जिसमे स्वामी विवेकानंद सहभागी हुये थे। इसी परिषद के स्वामीजी के भाषणों के समाचार मामा ने अखबारों में पढे थे। तबसे स्वामीजी के दर्शन करने की तीव्र इच्छा उनके मन में जाग उठी थी। मौका पाते ही मामा ने अपने मन की बात स्वामीजी से कही थी। लेकिन स्वामीजी ने उन्हें समझाया। शादीशुदा होने के कारण मामा संन्यासी नहीं हो सकते थे। मामा निराश होकर लौट आये। लेकिन घरगृहस्थी में उन्हें आसक्ति नहीं थी। पिताजी के देहान्त के पश्चात उनके मन की संन्यासी होने की इच्छा फिर से प्रबल हो उठी जिससे प्रेरित होकर मामा सन 1901 के अंत में घर छोड कर बैलूर मठ की ओर चल पडे। जब वहाँ पहुँचे तब उस समय स्वामीजी संथाल मजदूरों के साथ बातचीत कर रहे थे। मजदूर अछूत थे। स्वामीजी ने संन्यासियों को अछूतों की सेवा करने का आदेश दिया। मौका देखकर मामा ने फिर अपने दिल की बात स्वामीजी के सामने प्रकट की। तब वे बोले, "भैया, रामकृष्ण आश्रम ही तुम्हारा घर समझो। संन्यासी बनने की कोई आवश्यकता नहीं। स्वामी ब्रह्मानंदजी तुम्हें मन्त्र दीक्षा देंगे। उसी को संन्यास समझो।" स्वामीजी ने गिरीशचंद्र जी के हाथों मामा को सौंप दिया। मामा को पुत्र समझ कर गिरीश बाबू ने उनकी परवरिश की। यथावकाश मामा की संन्यासी बनने की प्रबल इच्छा क्षीण होती गयी। वे संन्यासी नहीं बन सके। लौटकर घर आये। स्वामीजी के उपदेश के कारण मामा की जीवनदृष्टि व्यापक बन गयी। उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता विकसित हो गयी जिसके परिणाम स्वरूप वे 'जीवन के लिए कला' के पक्षधर बने।

साहित्य के संस्कार और अध्ययन

बाल्यकाल में पिताजी ने मामा से महाभारत, भागवत, रामायण तथा इन ग्रन्थों से संबंधित रामविजय, हरिविजय, पांडवप्रताप जैसे प्राचीन मराठी कवियों के लिखे ग्रन्थों का पारायण करवाया था। स्वामीजी के मुख से ये कहानियाँ सुनते समय मामा को हर समय नवीनता का आभास हुआ करता था। आश्रम में ही मामा बंगला भाषा से परिचित हुए और उन्होंने उस भाषा के साहित्य का अध्ययन किया। सामाजिक दृष्टि के कारण मामा की साहित्याभिरूचि विकसित होने लगी और संपन्न भी। यह बात सच है कि वे विशेष पढे-लिखे नहीं थे पर वे मेधावी और बुद्धिवान थे। शिक्षा के अभाव को उन्होंने पठन-पाठन और अध्ययन से भर दिया था। अंग्रेजी का अधिक ज्ञान न होते हुए भी कर्नल कीर्तिकर से मिलकर उन्होंने शेक्सपियर और इब्सन के नाटकों से परिचय करवा लिया और उनसे चर्चा की जिसका मामा को लाभ ही हुआ। इसी तरह उनके अध्ययन के भिन्न भिन्न प्रयास चलते रहे। और संन्यासी न सही सरस्वती के आराधक वे अवश्य बने।

कर्नल कीर्तिकर रत्नागिरी में सिविल सर्जन थे। मामा की उम्र पंद्रह-सोलह वर्ष की थी तबसे मामा इब्सेन के नाम से परिचित हो चुके थे। जबसे डा. कीर्तिकर से परिचय हुआ उन्होंने इब्सेन की साहित्य कृतियाँ पढना शुरू किया था, लेकिन उसके लेखन से

वे प्रभावित नही हुए थे। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह रही कि एक बार जब डा. कीर्तिकर ने इब्सेन का एक नाटक मामा को अभिनय के साथ पढकर सुनाया तभी साधारण जान पडनेवाला यह लेखक मामा के लिए एकदम असाधारण हो उठा और फलत: मामा इब्सेन के भक्त बन गये।

नाट्यलेखन का आरम्भ

मामा वरेरकर ने अपना पहला नाटक 'कुंजविहारी' सन 1908 में लिखा। तब उनकी उम्र चौबीस वर्ष की ही थी। वे डाक-विभाग में ही नौकरी कर रहे थें। इस नौकरी के बीस वर्ष की कालावधि मे मामा ने करीब आठ नाटक लिखे और नाटककार के नाते अपना सिक्का जमाया। इसके बाद सन 1919 में डाक-विभाग की नौकरी छोड दी। और आगे बढकर नाट्यक्षेत्र में पदार्पण करते हुए मराठी रंगभूमि पर मामा ने अपना एक स्वतंत्र स्थान निर्मित किया।

उस जमाने में राजनीतिक और सामाजिक सुधारों की जो विशाल लहर देश में आयी थी उसके भिन्न भिन्न प्रवाहो को मामा ने बडी सजगता से ठीक ठीक समझ लिया था। उस जमाने में भी पूना सामाजिक सुधारो और मुंबई राजनीतिक सुधारों का केद्र माना जाता था। डाक विभाग की नौकरी छोड देने के पश्चात मामा ने मुंबई में ही अपना निवास कायम किया। नाटक मंडलियों मे और कम्पनियो के साथ अनेक वर्ष रहकर नाटकों की पूरी कला उन्होंने अवगत कर ली थी और आत्मसात भी। 'कुंजविहारी' और 'सती सावित्रि' जैसे प्रचलित परम्परा के पौराणिक नाटक रंगमंच पर लाने के बाद मामा 'यही है वर का पिता' (हाच मुलाचा बाप) यह सामाजिक नाटक सन 1916 में रंगमंच पर ले आये। इसी नाटक से मराठी में नये यथार्थवादी नाटकों का युग आरम्भ हुआ।

मराठी उपन्यास के क्षेत्र में हरि नारायण आपटे और मराठी नाटक के क्षेत्र में श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर का बोलबाला था। इन दो भिन्न प्रकृतियों के कलाकारो ने मामा के प्रारम्भिक लेखनकाल के पच्चीस वर्षो तक उनकी प्रतिभा को परिपुष्ट किया। नाट्यक्षेत्र में श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर और उपन्यास के क्षेत्र में हरि नारायण आपटे को ही मामा अपना गुरू मानने थे। इन दोनों की विरासत मामा ने सदैव आगे बढाई। आधुनिक मराठी साहित्य के पहले तथा 1874 से 1920 तक के कालखण्ड के ये दो दिग्गज साहित्यकार थे। यह कालखण्ड सन 1925 के लगभग समाप्त हुआ। परन्तु इसके बाद करीब-करीब चालीस वर्ष तक मामा लिखते रहे। मराठी नाट्य के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि मराठी साहित्यजगत में मात्र अपना स्वतंत्र स्थान अबाधित ही नहीं रखा, वे मराठी नाट्य के क्षेत्र में युगप्रवर्तक भी कहलाये।

कोल्हटकर के अधिकांश नाटक तो शेक्सपियर ओर मोलिएर की शैली के अनुसार लिखे हैं जो रूमानी एवं अद्भुतरम्य नाटक हैं। उनसे आगे बढकर मामा ने मराठी नाटकों को सामाजिक वास्तविकता और इब्सन की नाट्यशैली दी जिसके परिणामस्वरूप मराठी

नाटकों ने नया मोड लिया। मराठी उपन्यास के क्षेत्र मे भी मामा ने सामाजिक वास्तविकता पर बल दिया। गोविंद बल्लाल देवल के लिखे 'शारदा' (1891) नाटक से स्वतंत्र, सामाजिक और प्रगतिशील नाटक की परम्परा शुरू तो हुई थी। लेकिन कृ. प्र. खाडिलकर के लिखे राजनीतिक उद्देश्य के नाटकों और श्री. कृ. कोल्हटकर के लिखे रूमानी प्रवृत्ति के नाटकों के कारण यह परम्परा विकसित नही हुई। इस परम्परा का पुनरूत्थान मामा वरेरकर के लिखे सामाजिक नाटकों के कारण ही हुआ।

मराठी नाटक में सामाजिक वास्तविकता

सन 1920 के लगभग मामा वरेरकर गांधीवादी और साम्यवादी विचारधाराओं से अत्याधिक प्रभावित होने के कारण उनकी जीवनदृष्टि को सामाजिक वास्तविकता का नया आयाम प्राप्त हुआ। महात्मा गांधीजी के तत्त्वविचारों से प्रभावित होने के कारण असहयोग, स्वदेशी का महत्त्व और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, ग्राम सुधार एवं ग्रामोद्धार और अछूतोद्धार आदि आंदोलनों का प्रतिबिंब मामा की साहित्यकृतियों में यथार्थ रूप में दिखाई देता है। साथही उस समय प्रचलित साम्यवादी तथा मार्क्सवादी विचारो से भी प्रभावित होने के कारण मामा ने मुंबई मिल मजदूरों की जीवन विषयक समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया और उनकी वस्तियों के भीतर की वास्तविकता को भी उजागर किया। मामा के पहले नाटककारों और उपन्यासकारों ने मध्य वर्ग के जीवन एवं समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया था। शोषित, पीडित और दलित जनजाति के जीवन की ओर ध्यान न देने के कारण वह उपेक्षित रहा और फलत: मराठी साहित्यविश्व की परिधि मध्यमवर्गीय जीवन तक सीमित रह चुकी थी। मुंबई का मध्यवर्ग गिरगाव तथा मिल मजदूर वर्ग गिरणगाव में - परेल - लालबाग परिसर में रहा करता था। मामा मराठी नाटक और उपन्यास को गिरगाव से गिरणगाव तक ले आये। मजदूर और मिल मालिक के बीच छेडे गये संघर्षो को मामा ने ही प्रथम बार बुलंद किया। दो विचारधाराओं अर्थात, गांधीवादी और साम्यवादी विचारधाराओं की संतुलित, समन्वित अभिव्यक्ति मामा वरेरकर की साहित्यकृतियों में होती है।

मामा वरेरकर की विशेषता यह है कि मराठी रंगमंच को अद्‌भुतरम्यता के वातावरण से खींचकर उसे वे हाडमाँस के जीते जागते मनुष्यों की दुनिया में ले आये। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में यह विशेषता हरि नारायण आपटे की कहानियों एवं उपन्यासों में व्यक्त हुई थी। गोविंद बल्लाल देवल के लिखे 'शारदा' नाटक का उल्लेख तो किया है। इस नाटक के साथ यथार्थवादी सामाजिक नाटकों की तेजस्वी शुरुआत हुई थी। यद्यपि परम्परा के रूप में उसका विकास नही हुआ तथापि उसका कुछ प्रभाव आगे चलकर श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर और राम गणेश गडकरी के लिखे नाटकों पर अवश्य परिलक्षित होता है। अर्थात, उनकी साहित्यकृतियाँ सामाजिक समस्याओं पर आधारित होते हुए भी ये दोनों नाटककार अद्‌भुतरम्यता तथा रूमामियत के मोह से अपने आपको बचा नहीं पाये।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशको मे साहित्यसृजन में सामाजिक एवं वास्तवता के चित्रण की प्रेरणा गोपाल गणेश आगरकर की उदारवादी समाजसुधार (Liberal Social Reforms) वादी विचारधारा में थी। उनके समकालीन निबंधकार लोकमान्य तिलक जहाल राष्ट्रवादी होने के कारण आगरकर की विचारधारा का विरोधही करते रहे। सन 1895 में आगरकर का देहान्त हुआ और राजनीति पर लोकमान्य तिलक की राष्ट्रीय विचारधारा का प्रभाव पडता रहा जिसके परिणाम स्वरूप कुछ समय तक समाजसुधारवादी विचारधारा निष्प्रभ होती रही।

कोल्हटकर, खाडिलकर और गडकरी जैसे मामा के पूर्वकाल के नाटककार तिलक युग के नाटककार हैं। मामा वरेरकर की प्रारम्भ काल की नाट्यकृतियाँ तिलकयुग में लिखी हुई हैं। तथापि मामा गांधी युग के ही साहित्यकार माने जाते हैं। इस युग में लोकमान्य तिलक की जहाल राष्ट्रवादी विचारधारा के स्थान पर म. गांधी की सत्य अहिंसावादी विचारधारा प्रभावी रही। स्वाधीनता संग्राम के साथ ही म. गांधी ने विधायक एवं रचनात्मक कार्यो पर बल दिया। गांधी युग के साहित्यकार सामाजिक समस्याओं को साहित्यकृति के माध्यम से मुखरित करने लगे। गांधी युग में आगरकर की उदारवादी समाजसुधार की तुलना में मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रांतिकारी विचारधारा अधिक प्रभावी रही। मामा वरेरकर गांधीवादी और साम्यवादी विचारधाराओं से प्रभावित थे। उन्होंने अपने पूर्वकाल के सामाजिक नाटकों और उपन्यासों की परम्परा को नया मोड देते हुए सामाजिक वास्तविकता पर अधिक बल दिया और इसी परम्परा को अधिक तत्त्वनिष्ठा के साथ आगे बढाया।

एक गुरू के शिष्य

श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के दो बुद्धिमान शिष्य थे। एक राम गणेश गडकरी और दूसरे भार्गव विठ्ठल तथा मामा वरेरकर। गडकरी थे भूतपूर्व स्कूलमास्टर और वरेरकर थे भूतपूर्व पोस्टमास्टर। दोनों ने गुरू की नाट्यपरंपरा को कुछ अधिक ही उत्साह और ऊर्जा के साथ बढाकर उसे समाज में गुरू से भी अधिक लोकप्रियता प्रदान की। कोल्हटकरके काव्य और व्यंग्य तथा हास्यरस का वरदान गडकरी को मिला तो सामाजिक अन्यायों एवं जुल्मोसितम के प्रति उन्हें लगनेवाली खीझ और छटपटाहट को वरेरकर ने वाणी प्रदान की। गडकरी और वरेरकर दोनों अच्छे मित्र थे। जब मामा मालवण मे रहते थे तब गडकरी मामा के घर जाकर कुछ दिन उनके परिवार में रहे थे। मामा की कन्या तब छोटी थी। उसका नाम था गीता। गडकरी गीता को गोद में लेकर उसके साथ खेलते थे। मामा ने कतिपय साहित्यकारों से पारिवारिक सम्बन्ध जोड रखे थे। गडकरी ने तो अपने लिखे नाटक 'एक ही प्याला' (एकच प्याला) में एक नारी पात्र का नाम भी गीता रखा। नाट्यक्षेत्र में दोनों के एक ही गुरू होने के कारण वरेरकर गडकरी को तो गुरूबन्धु ही मानते थे। उन्होंने नाजुक स्थिति में गडकरी की मदद की थी। मामा ने कभी किसी का अनादर नहीं किया। यद्यपि दोनों एक ही गुरू के शिष्य थे तथापि गडकरी की रूझान अतीत की ओर थी और

मामा की रूझान अतीत की अपेक्षा वर्तमान की ओर अधिक रही! इसी के कारण मामा समकालीन घटनाओं के बारे में अधिक संवेदनशील थे।

मामा के साहित्य में समकालीनता

मामा वरेरकर ने नाट्यक्षेत्र में पदार्पण किया तब पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटको की परंपराएँ प्रचलित थी। परम्परा के अनुसार मामा ने नाट्यलेखन का आरम्भ 'कुंज विहारी' यह पौराणिक नाटक से किया। और उन्होंने 'करीन ती पूर्व' जैसा ऐतिहासिक नाटक भी प्रारम्भकाल में लिखा। लेकिन उनकी रूझान ही वर्तमान की ओर होने के कारण देवताओं और राजाओं की काल्पनिक तथा अद्भुतरम्य सृष्टी मे विचरण करनेवाली रंगभूमि को सामाजिक अन्याय, अत्याचार और आर्थिक विषमताओं से पाड़ित, शोषित, मेहनती गरीबो की दुनिया में वे ले आये। मध्यमवर्गीय तथा मज़दूर वर्ग के वास्तविक जीवन में जितनी भी सामाजिक समस्याएँ थीं प्राय: उन सारी समस्याओं को किसी न किसी नाटक में या उपन्यास में मामा ने वाणी प्रदान करने की कोशिश की है। दहेज, वधूपरीक्षा, धर्मान्तर, शुद्धीकरण, मिल मालिक और मिल मज़दूर के बीच का संघर्ष, हड़ताल, असहयोग, बहिष्कार, अछूतोद्धार खादी और नशाबंदी का प्रचार इत्यादि समस्याओं पर आधारित कथावस्तु मामा की साहित्यकृतियों में सम्मिलित है। मामा संवेदनशील साहित्यकार तो थे ही लेकिन वे बहिर्मुख थे। अथवा यों कहें कि वे जीवनोन्मुखएवं समाजोन्मुख कहीं अधिक थे। स्वाधीनता पूर्वकाल के 30-40 वर्ष में जो भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन महाराष्ट्र में छेड़े गये उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में मामा वरेरकर के संवेदनशील मन और विचारों पर प्रभाव पड़ने के परिणामस्वरूप इन समस्याओं के साथ मामा अनिवार्य रूप से जुड़े हुए थे।

साहित्य पर समकालीनता का अनिवार्य प्रभाव मराठी में अन्य साहित्यकारों की साहित्यकृतियों पर भी मिलता है। कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर उसी युग के प्रमुख नाटककार थे। लोकमान्य तिलक की राजनीति से प्रभावित होने के कारण खाडिलकर के लिखे पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में लोकमान्य तिलक की राष्ट्रवादी विचारधारा एवं जहाल राजनीति के तेजस्वी स्वर गुंजते रहे। वे तो तिलक पंथी ही माने जाते थे। लेकिन कट्टर तिलक पंथी होने के बावजूद लोकमान्य तिलक की मृत्यु के पश्चात सन 1920 में गांधीयुग का आरम्भ हुआ तो कट्टर तिलक पंथी नाटककार भी म. गांधी की सत्याग्रहवादी - अहिंसावादी विचारधारा के प्रभाव में आये। यह विचारधारा अत्याधिक बलवती होती गयी। खाडिलकर के नाटकों में गांधीजी की विचारधारा प्रस्फुटित होने लगी। गडकरी जी का देहान्त तो गांधी युग की शुरूआत होने से पहले हो चुका था। जैसा कि मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि मामा ने अपनी प्रारम्भिक नाट्यकृतियाँ तिलक युग में ही लिखीं। लेकिन. उनके नाट्यलेखन कर्तृत्व का काल, जिसमें मराठी रंगभूमि ने नया मोड़ लिया, गांधीयुग से ही शुरू हुआ। मामा वरेरकर पहले से ही तिलक पंथी विचारधारा से अलिप्त रहे।

गांधीवादी और साम्यवादी विचारधाराएँ 1920-30 के दशक में प्रवाहित हुई। दोनो विचारधाराओं के प्रभाव में आने के कारण मामा वरेरकर के लिखे नाटकों और उपन्यासो में ये विचारधाराएँ अपनी स्वाभाविक रूप में गतिशील होती रही। समकालीनता का यह प्रभाव मामा वरेरकर के साहित्यविश्व की अपनी विशेषता है। सामाजिक यथार्थता और समकालीनता, इन विशेषताओं के साथ साथ मामा के लेखन मे सहजता और विपुलता होने के कारण साहित्यकृतियों की संख्या की दृष्टि से भी वे अपने पूर्ववर्ती नाटककारों से दूर तक आगे निकल गये।

मामा का जीवन एवं चरित्र

सन 1919 में मामा ने डाक-तार विभाग की नौकरी छोड दी तब से मामा ने अपने आप को साहित्य निर्मिति के लिए पूर्णत: समर्पित किया। वे सदा के लिए साहित्य विश्व में ही व्यस्त रहे। युवा अवस्था में मामा की पत्नी का देहान्त हुआ तब से मामा विधुर ही रहे। उनकी एक बालविधवा बहन उनके परिवार के साथ रहती थी। मामा की एकलौती कन्या गीता जिसे वे माई कहते थे उनकी सर्वस्व थी। डा. ग. य. चिटणीस के साथ उसका विवाह हो चुका था। बाद में कुछ पारिवारिक कारणवश वह भी अपनी बेटी अंजली और बेटा अनिल को लेकर मामा के ही घर में रहने लगी। अंजली और अनिल तो मामा के जीवन में आयु के उत्तरार्ध में आये। मामा को पहले भी घरगृहस्थी में खास रूचि नहीं थी और बाद में गृहस्थी की जिम्मेदारी माई तथा माया चिटणीस ने ही सम्भाली। इस निजी परिवार के अलावा मामा का साहित्य संसार और साहित्यिक परिवार इतना व्यापक था कि मामा ने कभी अकेलापन महसूस किया ही नहीं।

नौकरी छोड देने के बाद मामा मुंबई में स्थलांतरित हुए। मुंबई मे फ्रेंच ब्रिज के बगल में राघववाडी में मामा रहा करते थे तो उनके घर में साहित्यकारों का दरबार लगा करता था जिसमें छोटे-मोटे साहित्यकारों के साथ मामा को चाहनेवाले कतिपय बुजुर्ग मौजुद हुआ करते थे। मामा का व्यक्तित्व उनके साहित्य की समान ही आकर्षक और वैशिष्ट्ययुक्त था, इसमें कोई संदेह नहीं। खिलाड़ी, नटखट वृत्ति मामा के व्यक्तित्व की विशेषता थी। और यही विशेषता उनके आयु के अन्त तक उनमें विद्यमान थी। अपने खिलाडी और नटखट स्वभाव के कारण उन्हें जिस तरह उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन प्राप्त हुआ उसी के कारण उनका मित्र परिवार भी व्यापक रहा। उनका व्यक्तित्व सदाबहार था। इसका यह प्रमाण है कि 'मामा' नाम अनेक वर्षों से महाराष्ट्र के आबालवृद्ध के मुँह से उच्चारित रहा। 'मामा' यानी 'वरेरकर' यह जैसे एक दूसरे का पर्यायवाची हो चुका था। जगदीशचन्द्र माथुर लिखते हैं, 'मामा वरेरकर ने क्यों अपना उपनाम 'मामा' रखा, यह कथा और लोग बताएँगे। किन्तु यह जिज्ञासा उठ सकती है कि उन्होंने 'मामा' का जगत्-रिश्ता क्यों चुना? चाचा अथवा बाबा का क्यों नहीं? अथवा 'नाट्यशिरोमणि' जैसे अलंकारपूर्ण संबोधन की ओर रूझान क्यों नहीं दिखाया? महाराष्ट्र तथा दक्षिण के अनेक भागो में 'मामा' बुजुर्गियत का प्रतीक

नही माना जाता। परिवार के किशोर किशोरी जिन बातो को बड़े-बूढ़ों के सामने कहने से हिचकते है, यौवनागमन पर जिन रहस्यों के चारों ओर मंडराते है, उनका सरस उल्लेख 'मामा' की उपस्थिति में हो सकता है। मामा नई और पुरानी पीढ़ी के बीच की कड़ी का काम करता है। मामा जीवन की रूमानी दौलत का खजांची है। हमारे मामा वरेरकर ने इस रूप में 'मामा' नाम की साख रखी।' भार्गव विठ्ठल वरेरकर मराठी साहित्य जगत के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य जगत में 'मामा' नाम से ही परिचित हैं।

अप्रैल 1956 में प्रथम और अप्रैल 1962 में दूसरी बार राज्यसभा के लिए मामा नामजद हुए थे। केवल लेखनी के बल पर मालवण का यह 'पी.एम.' (पोस्ट मास्टर) अंत में भारत की राज्यसभा का 'एम.पी.' (मेम्बर आफ पार्लमेन्ट) हो गया। भले ही मामा मैट्रिक तक ही पहुँचे, मैट्रिक नहीं पास कर पाये। लेकिन साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, भारत की राज्यसभा का सदस्यत्व और पद्मभूषण की उपाधि प्राप्त करने तक की मंजिल पर अपनी बहुमुखी प्रतिभा एवं लेखनी के बल पर ही तो जा पहुँचे थे। राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू का विशेष स्नेह और आदर उन्हें प्राप्त हुआ था। मराठी साहित्य के अलावा हिन्दी, गुजराती, तमिल आदि अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य जगत में भी मामा वरेरकर का नाम जा पहुंचा था। उनके बहुज्ञ, बहुरंगी, सदाबहार और चिरयुवा व्यक्तित्व के कारण उनको आंतर्प्रातीय प्रतिष्ठा मिली।

मामा का भारतीय दृष्टिकोण

मामा वरेरकर का लिखा हुआ साहित्य समकालीन आंदोलनों का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है, इसमें संदेह नहीं। पर इस यथार्थवाद के साथ मामा की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है उनका भारतीय दृष्टिकोण। उन्होंने हर तरह से अपने इस दृष्टिकोण की, विशुद्ध भारतीयता की मुहर अपने साहित्य पर लगाई। उन्होंने सभी देशी भाषाओं का समर्थन किया। हिंदी के प्रति उनकी रूझान थी। भावनाओं की दुनिया में विभिन्न भाषाओं को एक दूसरे के साथ जोड़ने की उन्होंने कोशिश की।

मामा का मराठी साहित्य तथा समकालीन महाराष्ट्र की राजनीति के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होना उनकी बहुमुखी प्रतिभा का एक नगण्य अंश मात्र है। अपने जन्मस्थान मालवण का विशिष्ट गुण अक्खड़पन तो मानों उन्हें माता के दूध से प्राप्त हो गया था। किन्तु उनकी प्रतिभा को किसी संकीर्ण क्षेत्र या सीमा मे आबद्ध कर संकुचित नहीं किया जा सकता। राज्यसभा के सदस्य के रूप में उनके संपर्क में आये हुए लोगों को अच्छी तरह से मालूम हुआ था कि मामा मात्र महाराष्ट्र के ही नहीं सच्चे अर्थ में भारतीय थे। यही उनका श्रेष्ठतर, विशेष गुण था जिसने उनके व्यक्तित्व को राष्ट्रव्यापी महानता प्रदान की थी।

यह बात सच है कि स्वाधीनता आंदोलन के साथ साथ मामा वरेरकर के व्यक्तित्व का विकास हुआ। वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इस आन्दोलन में सक्रिय जुट गये थे।

उनकी पुत्री माई तथा माया भी इस आंदोलन से जुड़ गयी थी। उस जमाने में उसने मालवण में पहली कांग्रेस सेविका के रूप में सक्रिय होकर सन 1928 में भारतीय नारियों को स्वाधीनता आंदोलन के बारे में सचेत किया। उनकी सोयी हुई राष्ट्रभावना को जगाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक मामा साम्यवादी विचारों से प्रभावित होने पर भी गांधीवादी विचारधारा के समर्थक के रूप में वे कट्टर कांग्रेसी रहे। परन्तु वे जनसाधारण के लिए आत्मीय स्वजन से कम न थे। उनके लिए 'मामा' का संबोधन जनसामान्य के द्वारा बहाल किया हुआ है जो जनसामान्य के साथ उनकी आत्मीयता का सूचक है।

हरि नारायण आपटे ने अपने उपन्यासों में महाराष्ट्र में नारी की तत्कालीन समाजव्यवस्था में दृष्टिगत होनेवाली दैन्यावस्था का तथा रूढिपरम्पराओं के द्वारा सदियों से लादी हुई सामाजिक दासता का हृदयस्पर्शी चित्रण करते हुए यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास के नये युग का प्रवर्तन किया। मामा वरेरकर इसी परम्परा के सामाजिक उपन्यासकार माने गये। उनके द्वारा प्रस्तुत 'विधवा कुमारी' (1930), 'गोदू गोखले' (1932-33) आदि उपन्यासो में महाराष्ट्रीय नारी अपनी दुर्बलता को छोड़कर विद्रोहिणी बनी हुई दिखाई देती है। इसके पूर्व मामा वरेरकर ने सामाजिक नाटकों द्वारा रंगमंच पर नारी के व्यक्तित्व को नया आयाम देकर शोषित पीडित नारी का विद्रोही रूप प्रस्तुत तो किया ही, सामाजिक उपन्यासों में भी इसी रूप को उजागर किया। नारी मुक्ति आंदोलन के नारे तो बीसवीं सदि में साठोत्तर काल में बुलन्द होने लगे थे। ध्यान रहें कि इसके पूर्व सर्वप्रथम मामा वरेरकर की नायिकाओं ने समाजव्यवस्था की भारतीय परम्पराओं के विरोध में विद्रोही भूमिका अपनायी थी। नारी जागरण की दृष्टि से मामा के उपन्यासों का अपना महत्त्व है।

मामा का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

शोषित मज़दूरों, पीड़ित नारियों एवं दलितों के जीवन से संबंधित महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर नाटक और उपन्यास लिखते हुए मामा ने मराठी साहित्य को बहुआयामी एवं व्यापक बना दिया। सच्चे अर्थ में जनवादी साहित्यकार के रूप में सामने आ गये।

सन 1908 में 'कुंज बिहारी' नाटक अभिनीत हुआ तबसे मामा की प्रतिभा का असाधारण विकास हुआ और उनकी अखंड लेखनी से अविराम गति में करीब 49 नाटक, 26 उपन्यास, 5 कहानी संग्रह, चार खण्डों में प्रकाशित धारावाहिक आत्मकहानी, अनगिनत निबंधों और भाषणों का सृजन हुआ। चौदह खण्डों में बंकिमचंद्र चटोपाध्याय (चतर्जी) के, छत्तीस खण्डों में शरच्चंद्र चटोपाध्याय (चतर्जी) के समस्त उपन्यासों का तथा प्रभातकुमार मुखर्जी के लिखे पाँच उपन्यासों का उन्होंने मराठी में अनुवाद किया। इस तरह बँगला साहित्य के साथ सदा सदा के लिए वे जुड़ गये थे।

अपनी मातृभाषा के समान ही अन्य भारतीय भाषाओं के प्रति अनुराग मामा की विशेषता थी। ख्यातनाम मराठी साहित्यकारों में शायद मामा एकमात्र ऐसे थे जिन्होंने बँगला, हिंदी, तमिल, कन्नड और अन्य भाषा-भाषी साहित्यकारों से मित्रता की। इन भाषाओं का अध्ययन

करते हुए उन्होंने अन्य भाषाओं के प्रति आत्मीयता का परिचय भी दिया।

शरत् बाबू जब जीवित थे उस समय मामा का उनसे पत्रव्यवहार हुआ करता था। मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि हिन्दी के श्रेष्ठ राष्ट्रकवि मामा के घनिष्ठ मित्र थे। एवं आद्य रंगाचार्य जो उन दिनो में मुम्बई राज्य में कन्नड भाषा के प्रति 'न्याय' के लिए आन्दोलन छेडनेवालो में से एक थे उनसे भी मामा की मित्रता रही थी। उनके प्रति मामा के हृदय मे सदा ही स्नेह रहा। मामा की विशाल हृदयता की आद्य रंगाचार्य ने सदा ही प्रशंसा की है। ख्यातनाम गुजराती लेखक गुलाबदास ब्रोकर भी मामा के मित्र परिवार में से एक थे।

राज्यसभा के सदस्य बनने के बाद मामा जब दिल्ली में ही रहा करते थे तब तो उनका घर भारतीय साहित्यकारों के मेल-मिलाप का एक महत्त्वपूर्ण आकर्षण का केन्द्र रहा।

अपनी युवा अवस्था में उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी और बंगला साहित्य का अध्ययन किया। उनके पिताजी कीर्तनकार होने के नाते संस्कृत भाषा के पंडित थे। मामा की संस्कृत भाषा की भी जानकारी थी। इस तरह मामा बहुभाषी थे, कई भाषाओ पर उनका एकाधिकार था।

ढलती उम्र में बहुत परिश्रम के साथ उन्होंने शरत्बाबू के सभी बंगला उपन्यासों का मराठी में अनुवाद किया। मृत्यु से दो-तीन वर्ष पहले उन्होंने साहित्य अकादमी के लिए रवींद्रबाबू के कुछ नाटकों, कुछ कहानियों और उनकी कुछ चुनिंदा गद्य रचनाओं का भी मराठी अनुवाद किया।

वैसे तो केवल अनुवाद का ही व्यापक कार्य उनके लिए पर्याप्त था। फिर भी इसके अतिरिक्त समय निकालकर मामा मूक एवं सवाक चलचित्रों के लेखक, निर्माता और आकाशवाणी के वार्ताकार के रूप में कार्य करते रहे। इस रूप में भी उन्होंने अपनी बहुआयामी प्रतिभा का परिचय दिया।

नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध इत्यादि साहित्य की विधाओं के साथ ही चित्रपट, आकाशवाणी आदि आधुनिक दृक और श्राव्य साधनो को अपना पारसस्पर्श प्रदान करनेवालों में मामा अग्रणी थे। एकांकी तो उन्होंने विपुल लिखे। उन्होंने अपने एकांकी आकाशवाणी के श्रव्य माध्यम के द्वारा प्रस्तुत किये जो 'श्रुतिका' एवं 'नभोनाट्य' के नाम से प्रसारित हुए।

सन 1927 से 1930 तक मामा उस व्यापारिक, व्यावसायिक संस्था के सलाहकार थे जिसने भारत में सर्वप्रथम रेडिओ स्टेशन प्रस्थापित किया। उसके बाद सरकारने वह अपने हाथ ले लिया।

बंगाली साहित्य का मराठी में अनुवाद करने के लिए मामा को अनवरत किस प्रकार परिश्रम करना पडा होगा? किन्तु यह काम मामा ने अर्थोपार्जन अथवा धनप्राप्ति के संकुचित उद्देश्य से नहीं किया। यह सच है कि उम्र के तीस-बत्तीस वर्ष में ही उन्होंने डाक-तार विभाग की नौकरी, जो उनके आजीविका का एकमात्र साधन थी, छोड़ दी थी। सिवा लेखन

के किसी भी प्रकार का अन्य व्यवसाय न करने का दृढ संकल्प करते हुए मामा साहित्य की विविध विधाओं के क्षेत्र में लेखन करते रहे। सच बाता तो यह भी है कि अर्थोपार्जन के लिए तो उन्हें बुढ़ापे तक अपने कठिन काल में विवशता के साथ अंग्रेजी जासूसी कहानियों का मराठी अनुवाद भी करना पड़ा था।

मामा वरेरकर ने साहित्य की किस विधा में लेखन नही किया? नौकरी के कालखंड में तो मामा 'तमाशा' भी लिखा करते थे। लोकमान्य तिलक की राष्ट्रवादी तीखी विचारधारा के कारण ब्रिटिश सरकार की मराठी पत्रकारिता पर कड़ी नजर रहने लगी और मराठी साहित्यकृतियों पर भी। स्वयं लोकमान्य तिलक को राजद्रोही घोषित करते हुए कारावास की सजा दी गयी थी और उनके अनुयायी कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर के लिखे 'कीचक वध' जैसे पौराणिक नाटकों पर राजनीतिक प्रतिबंध लगाया गया था। शिवराम महादेव परांजपे के 'काल' नियतकालिक में प्रकाशित हुए सारे आलेख भी ब्रिटिश सरकार ने जब्त किये थे। विनायक दामोदर सावरकर की विचारधाराओं से प्रभावित कवि 'गोविंद' की लिखी राष्ट्रीय कविता भी ब्रिटिश सरकार की नज़र से बच न सकी। ऐसे कठिन काल में जब कि सरकार पर खुलेआम टीका टिप्पणी करना मुश्किल हो रहा था, तब कुछ तमाशाकारों ने 'तमाशा' के माध्यम से लोकजागरण का कार्य किया। 'तमाशा' यह मराठी लोककला (Folk Art) का एक ऐसा दृक्-श्रव्य माध्यम है जिसमें नृत्य-नाट्य-संगीत की अभिव्यक्ति होती है। आधुनिक मराठी नाटक का यह पूर्व रूप माना जाता है। इसी कालखंड में महाराष्ट्र के कोकण परिसर में खजिनदार नामक एक तमाशाकार लोकजागरण के लिए तमाशा का खेल प्रस्तुत करते थे। उनका वही पेशा था। और उनके खेल के लिए मामा वरेरकर ने कुछ 'तमाशा' भी लिखे थे। दुर्भाग्यवश आज मामा के इस कृतित्व की जानकारी उपलब्ध नहीं है।

मूक एवं चलचित्र निर्माण के क्षेत्र में पदार्पण करते हुए मामा ने उनके अपने मित्र पु. रा. लेले को साथ लेकर महात्मा गांधी के कारावास के एक प्रसंग पर गवर्नर सर लेस्ली विल्सन की अनुमति से एक लघुचित्रपट भी तैयार किया था जिसका नाम पु. रा. लेले ने 'महात्मा का चमत्कार' (Mahatma's Miracle) निश्चित किया था। उस जमाने में 'अनुबोधपट' एवं 'डाक्युमेंटरी (Documentary) शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं था। कला महर्षि बाबूराव पेन्टर ने एक समय मामा वरेरकर से कह दिया था, "मामा, आपने साहित्यिक होने के नाते कहानियाँ, उपन्यास, नाटक तो लिखे। लेकिन चलचित्र की क्या जानकारी है आपको?" नटखट मामा ने तुरंत जबाब दिया, "पेन्टर, मैं मालवणी हूँ। और मालवणी आदमी मन चाहे तो कोई भी काम पूरा कर सकता है।"

उसके बाद सन 1924 में मामा ने एक चित्रपट बनाया जिसका नाम था 'पूना पर हमला' (पुण्यावर हल्ला)। सिर्को प्राडक्शन की ओर से 'विलासी ईश्वर' और 'गीता अर्थात् कर्मयोग' जैसे चित्रपट भी मामा ने तैयार किये थे जिसकी महाराष्ट्र में बहुत सराहना हुई थी।

नाट्यजगत : मामा का परिवार

यह सच है कि निजी पारिवारिक जीवन में अपने कष्टमय अकेलेपन को भूल जाने के लिए मामा ने स्वयं को साहित्य और कला के क्षेत्र में सदैव व्यस्त रखा जिसके परिणामस्वरूप वे साहित्य और कला की विविध विधाओं में कुछ ना कुछ सृजन करते हुए साहित्य जगत् में योगदान देते रहे। लेकिन यह भी सच है कि अन्य विधाओं की अपेक्षा उनकी स्वाभाविक रूचि एवँ दिलचस्पी का क्षेत्र रंगभूमि और नाटक ही था।

युवा अवस्था में पत्नी का निधन हुआ। प्राच्य विद्याविशारद और ख्यातनाम संस्कृत पंडित डा. रामकृष्ण भांडारकर के ही खानदान में पैदा हुए आप्पा भांडारकर मशहूर अध्यापक थे और मामा के ससुर भी। उन्हीं का ही एक कर्तृत्ववान छात्र डा. ग. य. चिटणीस मामा का दामाद था। मामा की माता कालवश होने के बाद मामा सही माने में यतीम बन गये। उन्होंने प्रारंभिक काल में एक नाटक लिखा था जिसका शीर्षक था 'संन्यासी की घरगृहस्थी' (संन्याशाचा संसार) पत्नी और माता के अभाव में मामा गहरी विरक्ति का एहसास करने लगे थे। पर उसे भी मामा ने मात दी। अब नाटक कम्पनी ही उनका जीवनसर्वस्व भी नहीं उनका परिवार भी था और जीवनाधार भी। मामा ने अपने आपको नाट्य कला के लिए पूर्णत: समर्पित कर दिया। सदासदा के लिए नाटक कम्पनियों से वे जुट गये। नाटक कम्पनी में ही अष्टौप्रहर रहना, नाटक कम्पनी के साथ गाँव गाँव भ्रमन्ति करना और नाटक कम्पनी के लिए नाटक लिखना यही उनकी 'घरगृहस्थी' बन गयी थी। मराठी रंगभूमि की अवनति के कालखंड में बापूराव पेंढारकर की 'ललित कलादर्श' कम्पनी और मामा वरेरकर के नाटकों ने मराठी रंगभूमि को उन्नत अवस्था प्राप्त करा दी। इब्सेन और बर्नाड शा के प्रभाव के परिणामस्वरूप मामा ने मराठी रंगभूमि का कायाकल्प ही कर दिया। इसी लिए तो मामा युगप्रवर्तक नाटककार माने जाते हैं।

राज्यसभा में मामा वरेरकर

राज्यसभा के सदस्य के नाते उनके कुछ भाषण हुए। मराठी रंगभूमि तथा जनशिक्षा के प्रति उनकी अभिरूचि एवं दिलचस्पी इन भाषणों में परिलक्षित होती है। उन्होंने मॉग की थी कि सांस्कृतिक कामों के लिए एक अलग मंत्रालय होना चाहिए। दूसरी पंचवर्षीय योजना पर भाषण देते हुए उन्होंने शासन से शिकायत की कि, "इसमें कला एवं सांस्कृतिक कार्यो की ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया है। साथ ही रंगमंच की ओर भी उन्होंने शासन का ध्यान खींचा। दूसरी योजना में रंगमंच की ओर जो उपेक्षा हुई उसके लिए खेद व्यक्त करते हुए मामा ने कहा कि रंगमंच का विकास करना चाहिए तथा भारत में सर्वत्र कम से कम हर जिले में एक रंगमंच तो होना ही चाहिए।"

नाट्यकला तथा रंगमंच के विकास से संबंधित मामा के विचार उनकी मराठी रंगभूमि के प्रति आस्था एवं दिलचस्पी का यह प्रमाण है।

मराठी रंगमंच को सब तरफ से सुधार कर उसे सामाजिक जीवन में प्रभावशाली स्थान

देने का कठिन कार्य मामा ने निष्ठापूर्वक किया। इसी लिए मराठी नाटको और रंगभूमि के इतिहास में मामा का उल्लेख 'आधुनिक रंगभूमि के निर्माता' के रूप में ही करना पड़ेगा।

मराठी साहित्य में मामा का स्थान

मराठी साहित्य में मामा का कार्य बड़ा ही अनोखा है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि नाट्य क्षेत्र के साथ उपन्यास के क्षेत्र में भी अपना स्वतंत्र स्थान प्रस्थापित किया। मराठी साहित्य के भण्डार को उन्होंने कई उपहार भेंट किये, आकर्षक और अमूल्य। अपनी नई नई सामाजिक कल्पनाओं से समाज को रंग देनेवाला उपन्यास मनोरंजन का माध्यम अवश्य या। परन्तु मामा के लेखन का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं था। मात्र मनोरंजन के लिए उन्होंने लिखा ही नहीं। उनका लेखन सामाजिक वास्तविकता से भरपूर होने के कारण उनकी साहित्यकृतियों में कल्पना की गगन को चूम लेनेवाली उड़ान शायद नहीं हो पर उनकी कृतियाँ सोद्देश्य, लोकशिक्षण का सशक्त माध्यम अवश्य रही हैं।

जैसा कि पहले ही मैंने लिखा है कि 'कला के लिए कला' और 'जीवन के लिए कला' इस बहुचर्चित विवाद में मामा वरेरकर 'जीवन के लिए कला' के पक्षधर रहे। सन 1920 के बाद मराठी साहित्य जगत में विख्यात कहानीकार और उपन्यासकार ना. सी. फडके ने कलावाद का झंडा फहराया और बहुत सारे मराठी साहित्यकार उस झंडे के नीचे जमा होते गये। लेकिन एक मामा वरेरकर ही थे जो उस झंडे के आसपास कभी भी नहीं ठहरे। उनकी अदम्य निष्ठा जितनी जीवन के प्रति रही उतनी ही साहित्य में जीवनवाद के प्रति भी।

मामा की लोकप्रियता

मामा वरेरकर के साहित्य को लोकप्रियता प्राप्त हुई और साहित्यकार के नाते मामा विविध पुरस्कारों से एवं प्रतिष्ठित पदों से सम्मानित हुए। सन 1932 में बडोदा में मराठी वाङ्मय परिषद का अध्यक्षपद उन्हें प्राप्त हुआ। सन 1936 में 'मुम्बई और मुम्बई उपनगर साहित्य सम्मेलन की, तथा 1938 में पूना में मराठी नाट्यसम्मेलन की अध्यक्षता मामा ने की। सन 1943 में मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय के 44 वे वर्धापनदिन के अवसर पर मामा ने ही अध्यक्षपद विभूषित किया था। सन 1943 में उनकी साठवीं वर्षगाँठ का समारोह उत्साहपूर्ण वातावरण में संपन्न हुआ था जिसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति पु.मं. लाड ने की थी। सन 1945 में 'महाराष्ट्र साहित्य परिषद' (पूना) की ओर से धुलिया में मराठी साहित्य सम्मेलन संपन्न हुआ। उस सम्मेलन का अध्यक्षपद मामा वरेरकर ने ही विभूषित किया था। मराठी साहित्यकार के लिए यह बहुत बड़ा गौरवशाली सम्मान माना जाता है।

साहित्यकार के नाते मामा वरेरकर तो भाग्यशाली ही थे। वे दूबारा राज्यसभा के सदस्य के रूप में नामजद किये गये। सन 1956 में 'पद्मभूषण' उपाधि से भी सम्मानित किये गये। सन 1963 में उनको 'संगीत अकादमी' की फेलोशिप प्राप्त हुई।

उनकी अस्सीवीं वर्षगाँठ मुम्बई में राष्ट्रपति की अध्यक्षता में मनाई गयी थी। हर पीढ़ी

से मामा यही कहा करते थे कि, "मुझे अपनों में घुलमिल जाने दो। मैं प्रतिष्ठा नही चाहता, स्नेह चाहता हूँ। मैं परामर्श दूँ या न दूँ परिहास अवश्य करूँगा। मैं पूजा का पात्र, जीर्ण तरू नहीं हूँ। मेरी सदाबहार साया मे अठखेलियाँ करते रहो- इसी में मेरा सुख है।

अपने व्यक्तिगत जीवन में न सही अपने साहित्य विश्व मे विशाल जनपरिवार में मामा सुखी थे और सबके चहते होने के कारण भाग्यशाली भी।

23 सितम्बर 1964 में भारत की राजधानी में बयासी वर्ष की उम्र में मामा वरेरकर का निधन हुआ। मराठी नाट्य एवं रंगभूमि के इतिहास का एक युग समाप्त हुआ। उनकी मृत्यु के साथ मराठी साहित्य का एक बड़ा कालखंड मानो समाप्त हो गया।

मालवण का एक साधारण 'पी.एम.' अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर एवं साहित्य सृजन के द्वारा 'एम.पी.' हो गया और राजधानी में ही यमुना के किनारे अपनी देह छोड़ने का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ।

■

2

मामा वरेरकर की साहित्यविषयक भूमिका

साहित्यकार के नाते मामा वरेरकर का नाम उपन्यास और नाटक के क्षेत्र में विख्यात है। साहित्य और कला की अन्य विधाओं में भी उन्होंने सृजन किया है जिसका निर्देश पहले ही हो चुका है। उन्होंने विविध सम्मेलनों की अध्यक्षता की। इन सम्मेलनों की अध्यक्षता करते हुए तथा समय समय पर अन्य अवसरों पर मामा ने जो भाषण दिए उन भाषणों का भी उनके साहित्यसृजन में अपना महत्त्व है। क्यों कि इन भाषणों द्वारा मामा वरेरकर ने अपने साहित्य एवं कलाविषयक दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला। उनकी सराहनीय विशेषता यह है कि, मामा अपनी वैचारिक भूमिका पर सदा के लिए अविचल रहे। भले अन्य साहित्यकार और आलोचक उनके साहित्यविषयक दृष्टिकोण अथवा वैचारिक भूमिका से सहमत हों या न हों, मामा ने अपने दृष्टिकोण, विचार एवं भूमिका के अनुसार ही समग्र साहित्य का सृजन किया।

'मराठी वाङ्मय परिषद, बडोदा' (1932), 'मुम्बई और मुम्बई उपनगर साहित्य सम्मेलन' (1936), 'मराठी नाट्यसम्मेलन, पूना' (1938), 'मराठी साहित्य सम्मेलन, धुलिया' (1945) आदि समारोहों की अध्यक्षता करते हुए उनके दिए हुए भाषणो का संग्रह 'आघात' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा मराठी पत्रिकाओं तथा ज्योत्स्ना, नवनीत, दीपावली, मौज आदि मासिक तथा साहित्यपत्रिकाओ में उनके लिखे कुछ आलेख छपे हुए थे। लेकिन खेद की बात है कि वे पुस्तकरूप में संग्रहित नहीं हो पाये। राष्ट्रभाषा प्रसार समिति के रजत जयंति के महोत्सव के अवसर पर दिल्ली में अखिल भारतीय भाषा सम्मेलन में मामा का राष्ट्रभाषा पर दिया भाषण और 1956 में अखिल भारतीय साहित्यकार परिषद के अवसर पर साहित्य पर दिया हुआ भाषण, दोनों हिंदी मासिक पत्रिका 'लहर' (मई-जून 1965) में प्रकाशित किये गये थे। मुंबई मराठी ग्रंथसंग्रहालय की वर्षगाँठ के तत्त्वावधान में आयोजित समारोह में मामा ने साहित्य पर विचारविमर्शक भाषण दिया था जो उपलब्ध नहीं हो पाया, परंतु भाषण के कुछ अंश मराठी समाचारपत्रों में प्रकाशित हुए थे। मामा का यह सभी वैचारिक लेखन उनके साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। क्यों कि जीवन और साहित्य की ओर देखने की उनकी दृष्टि, तथा उनकी साहित्यविषयक भूमिका, जीवन और साहित्य के प्रति उनकी आस्था एवं आत्मीयता, राष्ट्रीय एकात्मता में उनकी एकान्त निष्ठा, समाज के नवनिर्माण में साहित्य की अहम भूमिका आदि का

दर्शन उनके द्वारा प्रस्तुत वैचारिक आलेखों तथा भाषणों द्वारा होता है।

मामा वरेरकर ने विविध विधाओ में जो लेखन किया वह 'स्वान्त: सुखाय' नहीं बल्कि 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' दृष्टि से ही किया। कला और जीवन के वाङ्मयीन विवाद के कालखण्ड में मामा साहित्य में जीवनवाद के पक्षधर रहे जबकि उनके समकालीन अधिकांश मध्यमवर्गीय साहित्यकार ना. सी. फडके के द्वारा फहराए कलावाद के झंडे के नीचे जमा होने लगे थे। दूसरी भी बात यह थी कि राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के नेतृत्व की बागडोर म. गांधी ने सम्भाली थी। उन्होने एक तरफ धनिक वर्ग को और दूसरी तरफ आम आदमी को स्वाधीनता संग्राम की अनिवार्य प्रक्रिया में बड़ी तेजी के साथ आकर्षित कर लिया था। फलत: मध्यमवर्ग का महत्त्व अपने आप कम हो रहा था। तिलक युग में जीवनव्यवहार के क्षेत्र में मध्यमवर्ग का विशेष प्रभुत्व हुआ करता था। राजकीय, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्य कला के क्षेत्र मे इसी वर्ग का अधिपत्य था। महात्मा गांधी ने राजकीय स्वाधीनता संग्राम के साथ ही युगीन सामाजिक समस्याओं को राष्ट्रीय सभा के कार्यक्रमपत्रिका में समाविष्ट करते हुए रचनात्मक अथवा विधायक सामाजिक कार्यक्रमों पर बल दिया था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप में मध्यमवर्ग का प्रभुत्व अपने आपही कम होने लगा। तिलक युग में मध्यमवर्ग का प्रभुत्व होने के कारण मध्यमवर्गीय साहित्यकार सामाजिक-राजकीय विचारप्रवाहों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ था। जबकि गांधी युग में मध्यमवर्गीय लेखक इन विचारधाराओं से अलिप्त होने लगा और उसने साहित्य के ही क्षेत्र तक ही अपने आप को सीमित रखा। जब साहित्य के क्षेत्र में कलावाद और जीवनवाद को लेकर विवाद शुरू हुआ तो अधिकांश मध्यमवर्गीय साहित्यिक कलावाद के पक्षधर बने।

ध्यान रहे कि मामा वरेरकर ही ऐसे थे जिन्होंने जीवनवाद का पक्ष लेते हुए नम्रतापूर्वक स्वयं घोषित किया था कि मै साहित्य जगत में एक मज़दूर की तरह हूँ। उनकी यह घोषणा लोगों को विचित्र सी महसूस होने लगी और यह स्वाभाविक ही था। लेकिन मामा वरेरकर ने अपनी ओर से सही माने में इस विचार को स्पष्ट करते हुए कहा कि मज़दूर अपने जीवन निर्वाह के लिए अविरत श्रम करता है उसी तरह मै भी परिश्रमपूर्वक लेखन करता हूँ जो मेरे निर्वाह का एकमात्र साधन भी है। मज़दूर जिस दृष्टि से साहित्य और कला की ओर देखता हे उसी उपयुक्ततावादी दृष्टि से मैं साहित्य और कला की ओर देखता हूँ। यह समर्थन भी अजीब सा था। लेकिन यह भी सच है कि जनसामान्य हो या समीक्षक साहित्य की ओर सौंदर्यवादी दृष्टि से या उपयुक्ततावादी दृष्टि से देखते आये हैं। वस्तुत: मामा की दृष्टि उपयुक्ततावादी होने के कारण उनकी यह भूमिका थी कि साहित्य मात्र मनोरंजन का ही साधन नहीं बल्कि सामाजिक संघर्ष का भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। जीवन में आवश्यक उद्बोधन का कार्य भी तो साहित्य के द्वारा ही होता है। साहित्य एवं जीवन का अनिवार्य संबंध होता है। जीवन से साहित्य का निर्माण होता है और जीवन निर्माण की दृष्टि से

वह अपनी अहम भूमिका निभाता है। अत: जीवन संघर्ष के लिए परहिताय एवं परसुखाय साहित्य का निर्माण होना आवश्यक है।

साहित्य में सामाजिक वास्तविकता

मामा वरेरकर की यह धारणा थी कि साहित्य को सामाजिक वास्तविकता की ठोस भूमि पर आधारित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहे तो साहित्य में वास्तविक जीवन का चित्रण होना चाहिए। साहित्य में व्यक्तिवाद, आत्मपरता, हेतुनिरपेक्षता आदि तत्त्वों का मामा विरोध करते रहे। क्यों कि उनकी साहित्यविषयक भूमिका 'परहिताय परसुखाय' वादी थी। इस विरोध के कारण उनके समकालीन कतिपय साहित्यकार उनसे सहमत नहीं थे।

सिद्धान्त के तौर पर मामा ने यह प्रमाणित किया कि जीवन में मनुष्य की संवेदना और मनुष्य का आचारव्यवहार एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। व्यवहार के परिणामस्वरूप मनुष्य के मन मे भावना, वासना, विकार आदि पैदा होते हैं और नियंत्रित भी। और इन भावना और विकारों के कारण मनुष्य को आचारव्यवहार की प्रेरणा मिलती है। दूसरी ओर मनुष्य के व्यवहार भी सामाजिक परिस्थिति से एवं वास्तविकता से प्रभावित होने के कारण भावना, वासना, विकार, कल्पना आदि में अनिवार्य बदलाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के व्यक्तित्व के, जैसा कि पहले कहा है जीवन के निर्माण में सामाजिक परिस्थितियों का संबंधित साहित्य का बहुत बड़ा योगदान होता है, यही कारण है कि मामा वरेरकर अभिजातवाद (क्लासिसिज्म) के नहीं वास्तववाद एवं यथार्थवाद (रिआलिज्म) के पक्षधर बने रहे।

मामा ने वैयक्तिक मनोविज्ञान अथवा आत्मीयंता और सामाजिक मनोविज्ञान अथवा आत्मीयता में भेद करते हुए यह स्पष्ट किया कि सामाजिक आत्मीयता वैयक्तिक आत्मीयता में प्रतिबिम्बित होती रहती है। लेकिन वैयक्तिक आत्मीयता कभी कभी सामाजिक आत्मीयता को भंग कर देती है जिसके परिणामस्वरूप एक वर्ग दूसरे वर्ग से अलग हो जाता है। दोनों में बड़ी खाई निर्मित हो जाती है। एक विशिष्ट वर्ग की जीवन शैली, उसका जीवनक्रम, उसकी शिक्षा पद्धति, उसके संस्कार और परम्पराओं के कारण यह वर्ग दूसरे वर्ग से भिन्न होता जाता है। इसी प्रक्रिया में सामाजिक एकात्मता भी भंग हो जाती है। वस्तुत: वर्गभेद और वर्गसंघर्ष का यही मूल कारण है। एक वर्ग से दूसरे वर्ग के अलगाव का निर्देशन, उनके संघर्ष का चित्रण, जीवन एवं समाज की वास्तविक स्थिति-गति में बदलाव लानेवाली अभिव्यक्ति को ही वास्तववाद कहा जाता है। मामा वरेरकर ने वास्तववाद को इसी तरह परिभाषित किया। लेकिन पाश्चात्य अथवा युरोपीय साहित्य और कला दृष्टि से प्रभावित होने के कारण कलावादी आलोचकों ने इस परिभाषा को तो स्वीकार ही नहीं किया। मामा वरेरकर का सामाजिक वास्तविकता का विचार मार्क्स के वर्ग सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण मामा साम्यवादी है, ऐसी आलोचकों की धारणा बन गई। कलावादी आलोचक मार्क्सवाद के और समाजवादी यथार्थवाद वे विपक्ष में थे। और मामा सामाजिक यथार्थवाद

के पक्ष में थे।

मामा की परिवर्तनवादी भूमिका

मामा की दृष्टि से कहानी, उपन्यास, नाटक आदि साहित्य का सर्जन एक संश्लेषण की प्रक्रिया है। इसमें भावनाओं, कल्पनाओं और विचारों का ऐसा मिलन हो जाता है कि एक दूसरे से अलग कर पहचानना मुश्किल होता है। मनोरंजन के साथ ही साहित्य के अन्य उद्देश्य होने के कारण साहित्यकृति में मनुष्य का व्यवहार तथा भावनाओं, कल्पनाओ और विचारों का व्यवहार कुछ निश्चित उद्देश्य के अनुरूप ही होता है। साहित्यकार के नाते मामा इससे सहमत नहीं थे कि विचारधारा से प्रेरित होने से और समाज को परिवर्तन की दिशा की ओर प्रवृत्त करने के उद्देश्य से लिखी हुई साहित्यकृतियाँ मात्र प्रचारात्मक बनती हैं। मामा वरेरकर की यह धारणा थी साहित्यकृति प्रचार का नहीं संस्कार का माध्यम है और समाजपरिवर्तन के लिए कालानुरूप नये संस्कार की आवश्यकता होती है। विचारधारा संस्कार की प्रक्रिया का एक अंश है। प्रचलित विचार धाराओं से मनुष्य के स्वाभाविक विचार प्रभावित होते रहते हैं और विचारों के प्रभाव के कारण ही मनुष्य की भावना सचेत, संस्कारित बनती है। फलत: उक्त सचेत संस्कारित भावना के कारण ही मनुष्य की कृति-उक्ति होती रहती है। साहित्य कृति में विचार और भावना का समन्वय तो अनिवार्य होता ही रहता है। मामा की दृष्टि से साहित्यकला समन्वय-साधक है।

मामा का यह विश्वास था कि वैचारिकता और भावनात्मकता में आपसी विरोध होने का तो कारण ही नहीं है। इन दोनों में अनुबंध होना स्वाभाविक है। तर्कवाद के कारण पहले मनुष्य के मन में कुछ विचार पैदा होता है और बाद में अनुभववाद के कारण भावना जन्म लेती है। अथवा ऐसा भी होने की संभावना है कि अनुभववाद के कारण मनुष्य के मनोमय विश्व में कुछ भावनाएं जन्म लेती है और बाद में भावनाओं का निर्वचन करते हुए मनुष्य तर्कवाद का सहारा लेता है।

मामा वरेरकर समाजपरिवर्तनवादी साहित्यकार थे उन्होंने यह स्वीकार किया था कि ललित साहित्य भावनात्मक तो होता ही है। लेकिन उसका वैचारिक भी होना आवश्यक है। कलावाद के पक्षधर इस मत का विरोध करते हुए यथार्थवादी - जीवनवादी साहित्य पर आपत्ति उठाते रहे। उनकी प्रधान आपत्ति यह थी कि साहित्य में जीवन की यथार्थता अथवा वास्तविकता का चित्रण परिवर्तन के उद्देश्य से ही किया जाता है। यथार्थवादी चित्रण या तो किसी विचारधारा के अनुरूप किया जाता है या परिवर्तन के हेतु से विचारों को साहित्यकृति में प्राधान्य दिया जाता है जिसके कारण साहित्य प्रचारकी बनता है। मामा वरेरकर ने इस आपत्ति का खंडन किया।

उन्होंने स्पष्ट रूप में प्रतिवाद किया कि धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक असमानता के कारण बहुजन समाज पर जो दासता लादी जाती है उसको मिटाने के लिए एवं बहुजन समाज को दासता से मुक्त करने के लिए परिवर्तनवादी साहित्य की ही आवश्यकता है।

ऐसा परिवर्तनवादी साहित्य जो असमानता का निषेध करते हुए असमानता को जन्म देने वाली रूढि परम्पराओं को ध्वस्त कर नवसमाजरचना के लिए ठोस विधायक कार्य के लिए निर्देशन करता है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक उत्क्रांति की ओर ध्यान देते हुए वर्तमानकालीन सामाजिक वास्तविकता के साथ संघर्षयुक्त जीवन का यथार्थ चित्रण साहित्यकृति में अवश्य होना चाहिए।

मराठी दलित साहित्य एवं 1960 के बाद प्रचलित अन्य बहुजनवादी साहित्य की धाराओं मे जो परिवर्तनवादी और विद्रोहवादी विचारधारा परिलक्षित होती है उसका सूत्रपात तो मामा वरेरकर ने ही किया है। वे एक ओर वास्तववाद अथवा यथार्थवाद को परिभाषित करते रहे और दूसरी ओर परिवर्तनवादी साहित्य का समर्थन भी करते रहे। लेकिन उनके समकालीन कलावादी साहित्यकार स्वच्छंदवाद (रोमाण्टिसिज्म) एवं सौंदर्यवाद से प्रभावित होने के कारण मामा वरेरकर की साहित्यविषयक दृष्टि एवं भूमिका या तो वे ठीक से समझ नहीं पाये अथवा जानबूझकर उनकी उपेक्षा करते रहे।

सामाजिक प्रतिबद्धता

मामा वरेरकर की यही धारणा थी कि वास्तववादी अथवा यथार्थवादी साहित्य समाजपरिवर्तन का एक हथियार है और बहुजन समाज पर सदियों से लादी गयी दासता से छुटकारा पाने के लिए ऐसा ही साहित्य समाज का सही मार्गदर्शन करता है और जनजागरण का कार्य भी। मामा वरेरकर का निर्देश साहित्यकार की जिम्मेदारी की ओर था। गौर करने की बात है कि मराठी साहित्य में सामाजिक प्रतिबद्धता की संकल्पना (कन्सेप्ट) दूसरे विश्वयुद्ध के बाद प्रभावी होती रही। इस संकल्पना का मूल कार्ल मार्क्स के तत्त्वविचारों में है। मार्क्स ने साहित्यकारों की सामाजिक जिम्मेदारी पर बल दिया है। साहित्य और कला के बारे में लिखते हुए कार्ल मार्क्स ने यथार्थवाद को जितना महत्त्व दिया उतना ही लेखक के सामाजिक उत्तरदायित्व को भी महत्त्व दिया। शायद मामा वरेरकर इन्हीं विचारों से प्रभावित थे। समाज परिवर्तन के लिए तीन भूमिकाएँ निश्चित कर लेना जरूरी होता है। विद्रोही, विध्वंसक और विधायक। परिवर्तनवादी साहित्य की निर्मिति की प्रेरणाएँ इन्हीं भूमिकाओं को निभाते हुए मिलती हैं। सामाजिक प्रतिबद्धता का मूल भी इन्हीं भूमिकाओं को निभाने की जिम्मेदारी में है। विध्वंसक और विधायक भूमिकाओं मे द्वंद्वात्मकता होने के कारण ही सामाजिक परिवर्तन की निश्चित दिशा मिलने की संभावना होती है। सामाजिक इतिहास की उत्क्रांति में यही होता रहा है ऐसा मामा वरेरकर का विश्वास होने के कारण वे सदा के लिए इस बात का समर्थन करते रहे कि समसामयिक जीवन संघर्ष का यथार्थ चित्रण साहित्य में परिलक्षित होना आवश्यक है। मामा का यह निर्देश भी साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता की ओर था। इस भूमिका पर अविचल रहते हुए स्वयं मामा ने अपने लिखे नाटकों एवं उपन्यासों में यथार्थवादी चित्रण करने की कोशिश की।

मामा की विभिन्न साहित्यकृतियों में यथार्थवाद

मामा के साहित्यकृतियों में सामाजिक समस्याओं पर आधारित कथावस्तुओं में यथार्थवाद के प्रमाण मिलते हैं। वे यथार्थवाद के समर्थक थे इसका अर्थ यह नहीं कि वे कला का विरोध करनेवाले थे। कला और कारीगरी (आर्ट एण्ड क्राफ्ट) में भेद तो है ही। कला में स्वाभाविकता और सहजता होती है तो कारीगरी में कृत्रिमता प्रभावकारी होती है। मामा वरेरकर इस तथ्य की ओर इशारा करते रहे कि साहित्यकृतियों में वास्तविक जीवन के यथार्थचित्रण में स्वाभाविकता होनी चाहिए और सहजता भी। वास्तवता की अपेक्षा कभी कभी कृत्रिमता अधिक आकर्षक होती है। इसीलिए रंजनवादी साहित्यकृतियों में स्वाभाविकता और सहजता के स्थान पर कृत्रिमता पर बल दिया जाने के कारण पाठक आकर्षित हो जाते हैं और प्रभावित भी। कृत्रिमता के द्वारा ही साहित्यकृति में अद्‌भुतरम्यता और अलौकिकता का अनुभव किया जाता है। मामा वरेरकर ऐसे रंजनवाद के खिलाफ थे। उन्होंने लिखा है कि, 'कृत्रिमता तो वास्तविकता की शत्रु होती है। इसी लिए यथार्थवादी लेखक को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि कृत्रिम एवं काल्पनिक अथवा अद्‌भुतरम्य साहित्यकृति एक ओर पाठकों को वास्तविकता से दूर ले जाकर उन्हें गुमराह कर देती है और दूसरी ओर पाठकों का मनोरंजन करती है। माना कि कला जीवन से बलवान है, लेकिन जीवन तो कला से भी अधिक बलवत्तर है। इसी लिए यथार्थवाद ही साहित्य का प्राण है एवं यथार्थ अभिव्यक्ति ही कला है।''

कला की यह जो परिभाषा मामा वरेरकर ने की वह निश्चित रूप से कलावाद के प्रमुख प्रवर्तक ना. सी. फडके की परिभाषा से सर्वथा अलग थी। स्थलकालव्यक्तिनिरपेक्ष आनंद देना यह ललित साहित्यकला का एक मात्र उद्देश्य है और वास्तविकता के आधार पर कल्पनाविश्व का सृजन, अथवा वास्तविकता का कल्पनीय में रूपांतरण करना यही कल्पना का कार्य है और यही कलात्मक शैली है- यह ना. सी. फडके की भूमिका थी जिसका मामा वरेरकर ने जमकर विरोध किया था। लेकिन दुर्भाग्यवश मामा वरेरकर के साहित्यविषयक विचारों को तत्कालीन साहित्य विमर्शकों एवं आलोचकों ने गंभीरता से तो लिया ही नहीं बल्कि उनकी खिल्ली उड़ाते हुए उनकी सर्वथा उपेक्षा की। कलावाद के पक्षधर बहुमत में और जीवनवाद के पक्षधर अल्पमत में होने के कारण शायद ना. सी. फडके की कलावादी भूमिका का ढिंढोरा ही इस कदर पीटा जा रहा था कि मामा का साहित्य क्षेत्र में जीवनवादी स्वर अनसुना हो जाए। यह सब जानते हुए भी मामा वरेरकर साहित्य में यथार्थवाद का ही आजीवन पुरस्कार करते रहे।

उनके विचार अधिकांश कलावादी साहित्यिकों और अलोचकों से भिन्न ही थे। कलावाद के पक्षधरों की तुलना में जीवनवाद के समर्थक साहित्यिक एवं समीक्षक कम होने के कारण मामा के विचार भी उपेक्षित रहे। फिर भी उन्होंने बड़ी आस्था के साथ यथार्थवाद का पुरस्कार किया।

मामा की विभिन्न साहित्यकृतियों में आदर्शवाद

उनके तत्त्वविचारों के पीछे उनका अपना एक आदर्शवाद एवं ध्येयवाद था। रूढि परम्परा, सामाजिक प्रतिबंधों की दासता, विषमता के कारण प्रचलित भेदभाव आदि के परिणामस्वरूप समाज एक ऐसे भँवर में फँस जाता है जिससे मनुष्य एवं समाज के विकास की गति में रूकावट पैदा होती है। इसी लिए समाज में परिवर्तन लाना हो तो विद्रोह की भूमिका अनिवार्य हो ही जाती है। मामा वरेरकर ने अपने ढंग से कहा कि महर्षि विश्वामित्र से लेकर महात्मा गांधी तक सभी महान पुरुषों ने नयी सृष्टि, नया विश्व और नया समाज निर्माण करने के उद्देश्य से ही आदर्शवाद तथा ध्येयवाद का पुरस्कार किया है। एक तरह से ये महापुरुष अपने अपने जमाने में समाजपरिवर्तन के लिए बगावत करनेवाले बागी ही तो थे।

भारतीय तत्त्वज्ञान में सत्त्व, रज और तम गुणों के आधार पर सृष्टि निर्मिति से लेकर मनुष्य मात्र का स्वभाव और आचारव्यवहार तक सभी विषयों का विश्लेषण किया जा चुका है। मामा वरेरकर ने कुछ अजीब तरह से इसी त्रिगुणात्मक सिद्धान्त को आधुनिक रूप दिया। विचार, अतिविचार और अविचार इन संज्ञाओं का इस्तेमाल करते उन्होंने कहा कि विचार ही सात्त्विक गुण है, अतिविचार राजस और अविचार तामस गुण है। सात्त्विक विचारों से अतिविचार और अतिविचारों के कारण ही अविचार पैदा होते हैं। बागियों की कृति उक्ति में कतिपय लोगों को अविचार महसूस होता है और कभीकभार पागलपन भी। लेकिन मामा ने स्पष्टीकरण दिया हे कि त्रिगुणात्मकता में सत्त्व गुण की भूमिका अहम् होती है, इसी तरह अतिविचारो और विचारों मे भी विचारों की भूमिका अहम् ही होती है। इसी लिए बागियों के अविचार में भी विचार की अहमियत होती है। इसी संदर्भ में मामा ने अलग सा शब्दप्रयोग प्रचलित किया 'विचारी अविचार' और ठोस रूप मे कहा कि समाज में परिवर्तन लाने के लिए समाज में ही पुरोगामी एवं प्रगमनशील प्रवृत्तियों का निर्माण होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी होता है। आज तक जिन महापुरुषों ने सामाजिक परिवर्तन के प्रयास किये हैं उन्होंने अपने 'विचारी अविचारों'से ही समाज को आगे कदम बढ़ा कर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है। बागियों का यही उद्दिष्ट होता है। साहित्यकारों को भी समाज को प्रगमनशील बनाने के लिए इसी उद्दिष्ट को अपनाना चाहिए। मामा वरेरकर का यह आग्रह था कि साहित्य मात्र मनोरंजन का नहीं बल्कि लोक जागृति का सबसे शक्तिशाली साधन है।

मामा की साधनवादी भूमिका

मामा वरेरकर ने 'वाङ्मय' और 'साहित्य' इन दो संज्ञाओं में भी भेद किया है। वे कहते हैं कि मौखिक परम्परा में जो बोला जाता है, कहा जाता है वह 'वाङ्मय' होता है और लिखित रूप में जो कहा जाता है वह 'साहित्य' होता है। नाट्यविधा का उदाहरण देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि 'तमाशा', 'हरिकीर्तन', 'आख्यान', 'प्रवचन' आदि विधाओ

को वाङ्मय ही कहते है। निरक्षर एवं अनपढ़ समाज में भी जागृति की आवश्यकता होती है तब इन्हीं विधाओं को सशक्त माध्यम के रूप में अपनाया जाता है। साहित्य, लोकजागृति का महत्त्वपूर्ण सशक्त माध्यम है। कार्ल मार्क्स की भी यही धारणा थी। हर युग में सामाजिक वास्तव की स्थिति गति में संघर्ष जारी रहने के कारण उसके प्रति लोकजागृति की ही आवश्यकता होती है। यह कार्य साहित्य ही करता आया है।

मामा वरेरकर की यह साधनवादी भूमिका और उनका यह तर्क कलावादी साहित्यकारों को मंजूर नहीं था। मामा ने आलोचकों की परवाह तो कभी की ही नहीं। आलोचक मामा के साहित्य पर आपत्ति उठाते रहे और मामा उन्हें नजरअंदाज करते हुए अपनी भूमिका एवं साहित्यविषयक विचारों को अपनी कृतियों में उतारते हुए अपनीही मस्ती में अपने जीवन के अंत तक लिखते रहे। साहित्य सृजन ही मामा का लौकिक जीवन था। और साहित्य की विविध विधाओं में 'नाटक' ही उनका ऐहिक 'संसार' था। उन्होंने 'नाटक' और 'संसार' में अद्वैत महसूस किया था। वे बहुत बार श्लेष के सहारे मस्ती में डाक विभाग और साहित्य-सृजन के उभयार्थी प्रयोजन से कहा करते, "मैं तो पत्रों का व्यक्ति था।" (I was a man of letters) अपने जीवन के तीस वर्ष पूर्ण करने के पहले ही वे नौकरी छोड़कर अपने मनचाहे मराठी रंगमंच के लिए निष्ठा से जुड़ गये।

मामा की आत्मकथा

मामा वरेरकर ने अपने ही जीवन की कहानी एवं 'आत्मकथा' चार खण्डों में प्रकाशित की फिर भी उनकी आत्मकहानी अधूरी है। चौथा खण्ड 1962 में प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने अपने जीवनकाल की सन 1933 तक की हकीगत बयान की है। आगे की घटनाओं के बारे में उन्होंने थोडा बहुत लिखा था जिसके आधार पर मराठी के एक मशहूर साहित्यकार बा. द. सातोस्कर ने 'गोमंतक' पत्रिका में 1963-64 के दौरान मामा वरेरकर के कुछ संस्करण लिखे। सन 1964 में मामा का देहान्त हुआ। उन्होंने 'आत्मकहानी' को नाम दिया था 'माझा नाटकी संसार' अर्थात् 'मेरा नाटकीय जगत्' जिसमें लेखक के रूप में अपनी साहित्यिक रूचि-अरूचि और उसके लिए पोषक हुई बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अपने भाषणो एवं आलेखों के द्वारा मामा ने अपने साहित्यविषयक विचार, अपनी साहित्यिक भूमिका व्यक्त की है जिसे उनकी 'आत्मकहानी' से पुष्टि ही मिलती है।

3

कथाकार मामा वरेरकर (उपन्यास, कहानी इ.)

आधुनिक मराठी उपन्यास की परम्परा का प्रारंभ सन 1885 के लगभग हरि नारायण आपटे के उपन्यास से हुआ। प्रारम्भिक काल में इस प्रकार के लेखन के लिए उपन्यास नाम प्रचलित नहीं था। स्वयं हरिभाऊ ने इस प्रकार के अपने लेखन के लिए 'आजकल की कहानियाँ' ऐसा ही नाम निश्चित किया था। इस कहानियों का स्वरूप बृहत् होने के कारण तथा कथावस्तु, पात्र, प्रसंग, घटना आदि घटकों की पृथक पहचान होने के कारण यथावकाश इसके लिए उपन्यास नाम प्रचलित हुआ। फलत: कहानी और उपन्यास दो अलग अलग विधाएँ मानी जाने लगी। स्व. हरि नारायण आपटे ही आधुनिक मराठी कहानी के प्रवर्तक हैं। मराठी साहित्य के इतिहास मे सन 1885 से 1920 तक का कालखण्ड 'हरिभाऊ युग' नाम से ही पहचाना जाता है। इस युग मे सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास की परम्पराएँ प्रचलित थीं। सामाजिक उपन्यास की निर्मिति में समाजसुधार की विचारधारा की प्रेरणा प्रभावी थी जब कि ऐतिहासिक उपन्यास की निर्मिति में देशभक्ति एवं राष्ट्रवाद की प्रेरणा थी।

मामा वरेरकर ने अपने उपन्यास लेखन का आरम्भ इसी युग मे सन 1911 में किया 'घर गृहस्थी या संन्यास' (संसार की संन्यास) यह उनका पहला उपन्यास है। बुद्धकालीन इतिहास पर आधारित होने के कारण इसे ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा में ही अंतर्भूत किया जाता है। परम्परा के ही अनुसार मामा वरेरकर ने अपना पहला उपन्यास लिखा। लेकिन उनकी अपने दिल की रूझान अतीत की अपेक्षा वर्तमान की ओर ही अधिक थी। सामाजिक वास्तविकता से प्रभावित होने के कारण प्रचलित सामाजिक स्थितिगति की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ। एक युगचेता कलाकार के रूप में अपने समकालीन सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के परिणाम स्वरूप युगीन सामाजिक समस्याओं का आकलन और विश्लेषण करते हुए उन समस्याओं को कथात्मक साहित्यकृतियों के माध्यम से वाणी प्रदान करने के उद्देश्य से मामा ने प्रचलित सामाजिक उपन्यास की परम्परा को नया मोड़ दिया।

मामा साहित्य की ओर जीवनवादी दृष्टि से देखा करते थे। अपने लेखन की भूमिका स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा, "हिंदुस्तान को मात्र मनोरंजनात्मक अथवा मनोरंजनप्रधान साहित्य की आवश्यकता नहीं है। हिंदुस्थान की विद्यमान परिस्थिति में जनजागरण की

आवश्यकता होने के कारण जनजागृति करना ही साहित्यसृजन का एकमात्र ध्येय होना चाहिए।" सामान्य लोग सामाजिक, राजनीतिक वास्तविकता के बारे में प्राय: अनभिज्ञ होते हैं। उनके लिए सुबोध और सरल तथा सहज और स्वाभाविक भाषा में सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने की अनिवार्य आवश्यकता है। अपनी इस दृढ धारणा के कारण मामा अपनी साहित्य की जीवनवादी एवं यथार्थवादी भूमिका पर अविचल रहे। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ अंत तक अपनी यह भूमिका निभायी।

हरि नारायण आपटे ने अपने 'लेकिन कौन ख्याल करता है?' (पण लक्ष्यात कोण घेतो?) इस उपन्यास द्वारा सामाजिक उपन्यास की जिस परम्परा का सूत्रपात किया था, मामा वरेरकर उसी परम्परा के उपन्यासकार माने जाते हैं।

मामा का पहला उपन्यास 'विधवा कुमारी'

सन 1928 में उन्होंने 'गत भर्तृका' नाम से 'विधवा कुमारी' उपन्यास लिखा। इसी पहले ही उपन्यास के कारण मामा विवाद के घेरे में फँस गये। इस उपन्यास ने साहित्य जगत में ख़लबली मचा दी। एक तो 'गत भर्तृका' नाम से ऐसा महसूस होने लगा था कि यह अनामिक लेखिका स्वयं विधवा होने के कारण उसके कथित अनुभव वास्तविक हैं। दूसरा यह कि उपन्यास की नायिका 'मथू' ने समाजव्यवस्था के प्रति जो विद्रोही भूमिका अपनायी थी वह मराठी उपन्यास में नारी चित्रण की दृष्टि में सर्वथा नयी थी। हरि नारायण आपटे के प्रथम उपन्यास की नायिका 'यमू' ने रूढि परंपराओं के प्रतिबंधों के कारण अन्याय, अत्याचार सहना मुश्किल होते हुए भी विद्रोही भूमिका नहीं अपनायी लेकिन इन प्रतिबंधो से मुकाबला करने की दृष्टि से समाजसुधार की दिशा में पहला कदम उठाया। वामन मल्हार जोशी के उपन्यास की नायिका 'रागिणी' यमू से कहीं आगे बढ़कर आधुनिक विचारधाराओं का स्वीकार करते हुए सुधारवादी अथवा प्रगतिशील बनने की कोशिश करती रही। प्रचलित उदारवादी समाजसुधार (Liberal Social Reforms) की ही यह अनिवार्य अभिव्यक्ति थी। मामा के उपन्यास की नायिका 'मथू' तो 'यमू' और 'रागिणी' की उदारवादी भूमिका से हटकर पुरुषप्रधान समाजव्यवस्था के खिलाफ विद्रोही भूमिका अपनाती रही। नारी मुक्ति आंदोलन का शायद यह पहला प्रखर स्वर था जिससे समाज में खलबली तो मची लेकिन उसकी प्रशंसा भी हुई।

न. चिं. केलकर जैसे साहित्य सम्राट ने इस उपन्यास की प्रशंसा करते हुए इसे हरि नारायण आपटे के उपन्यास से कहीं अधिक बेहतर साबित किया।

सच बात तो यह है कि पूना के साहित्यकारों ने मामा की बहुत उपेक्षा की थी और उनको साहित्य जगत से बेदखल करने के प्रयास किये थे। इसीलिए मामा ने अपना पहला उपन्यास 'विधवा कुमारी' 'गतभर्तृका' उपनाम से लिखा और खलबली मचा दी। लेखक के नाते मामा अपना नाम गोपनीय रखना चाहते थे। लेकिन हुआ ऐसा कि इसी उपन्यास का दूसरा भाग 'पुनर्मिलन' प्रकाशित होने के पूर्व ही किसी और व्यक्ति ने दावा किया कि

'विधवा कुमारी' उसका अपना लिखा हुआ उपन्यास है। इस दावे के कारण मामा को अपने उपनाम का रहस्योद्घाटन करना ही पड़ा। लेकिन इस रहस्योद्घाटन के कारण साहित्य जगत मे तो अधिक खलबली मच गयी। 'विधवा कुमारी' की प्रशंसा करनेवाले न. चिं. केलकर ने ही बाद मे लिखा, 'यदि हमें मालूम होता कि यह उपन्यास मामा वरेरकर ने *लिखा है तो हम उसकी इतनी प्रशंसा करते ही नहीं।''*

· ध्यान रहे कि व्यक्तिगत मतभेद के कारण मराठी साहित्य जगत में मामा हमेशा विवाद एवं चर्चा का विषय बने रहे। तथापि यह भी सच है कि मामा के द्वारा लिखे 'विधवाकुमारी' उपन्यास ने मराठी में सामाजिक उपन्यास की परम्परा को खास तौर पर पारंपरिक नारीचित्रण को नया आयाम देने का ऐतिहासिक कार्य किया।

मामा का आखिरी उपन्यास 'लड़ाई के बाद'

लेखन के कालक्रम के अनुसार सन 1947 मे लिखा हुआ उपन्यास (लड़ाई के बाद) 'लढाईनंतर' मामा वरेरकर का लिखा आखिरी सामाजिक उपन्यास है। यह उपन्यास ही नहीं बल्कि इस उपन्यास का विषय भी मराठी उपन्यास के इतिहास में उपेक्षित ही रहा।

पहला विश्वयुद्ध 1818 में समाप्त हुआ। उसके एक वर्ष पूर्व रूस में लेनिन के नेतृत्व में महान अक्तूबर क्रांति हो चुकी थी। उसके परिणामस्वरूप अपने भी देश में परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई थी। लोकमान्य तिलक ने अक्तूबर क्रांति की प्रशंसा की थी और उनके सहकारी कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर ने 'चित्रमय जगत' मासिक पत्रिका में लिखे आलेख में क्रांति का परिचय दिया था। लोकमान्य तिलक को ब्रिटिश सरकार ने गिरफ्त किया था तब मुंबई के मिल मज़दूरों ने हड़ताल की थी। मज़दूरों और किसानों के आंदोलनों का इस तरह जन्म हुआ और शीघ्र गति से उनका प्रचार-प्रसार होता रहा। देहातों में विश्वयुद्धोत्तर कालीन दुरावस्था के कारण कोकण का किसान मुंबई जैसे शहर में आ पहुँचा और मज़दूर के नाते मिलों में काम करने लगा। वास्तव में किसानों और मज़दूरों में असंतोष फैला हुआ था।

'लड़ाई के बाद' उपन्यास का नायक एक सिपाही है जो युद्ध समाप्त होने पर घर लौट आता है। दुरावस्था के कारण उसकी होनेवाली कशमकश के चित्रण के साथ ही मामा ने इस उपन्यास में शहर और देहात में विश्वयुद्ध के पश्चात् की परिस्थिति का, शोषित किसान और मज़दूरों के असंतोष का जो यथार्थ चित्रण किया है वह जाने ज्वालामुखी का विस्फोट है। साथ ही यह भी सूचित किया है कि इस स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए अक्तूबर क्रांति के तौर पर इस देश में भी क्रांति होना अनिवार्य है। ऐसा सूचित करना भी उस जमाने में एक साहस था। उपन्यास 1947 में प्रकाशित हुआ। तथापि उसका लेखन स्वाधीनता पूर्वकाल में हो चुका था।

मामा वरेरकर का यह उपन्यास ऐसे कालखण्ड में प्रकाशित हुआ जब मराठी में नवासाहित्य का युगारंभ हो रहा था और मामा के उपन्यास लेखन का कालखण्ड भी समाप्ति

के संकेत दे रहा था। दूसरे विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप जो प्रवृत्तियाँ मनुष्य एवं समाज के जीवन में पैदा हुई थी वे नवसाहित्य मे खास तौर पर परिलक्षित होने लगी थीं। ये प्रवृत्तियाँ अतियथार्थवाद और अस्तित्ववाद के नाम से जानी जा रहीं थी। मामा वरेरकर का साहित्य इन प्रवृत्तियों से अलिप्त तो था ही लेकिन उनके उपन्यास लेखन का कालखण्ड भी समाप्ति की ओर अग्रसर हो रहा था। इसी लिए 'लड़ाई के बाद' उपन्यास की ओर आलोचकों का ध्यान शायद गया ही नहीं होगा।

इस उपन्यास की हकीकत तो कुछ और ही है। सन 1920 में मामा ने इसी विषय पर नाटक लिखा था। मराठी रंगभूमि के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ कलाकार गणपतराव बोडस की यशवंत नाटक कम्पनी के लिए मामा ने यह नाटक लिखा था। सब तैयारी हो चुकी थी। लेकिन कुछ आपसी मतभेद के कारण गणपतराव बोडस ने कम्पनी छोड़ दी और नाटक रंगमंच पर कभी आया ही नहीं। कुछ वर्षो के बाद मामा ने इसी नाटक का उपन्यास में रूपान्तरण किया। एक साहित्यपत्रिका ने धारावाही रूप में यह उपन्यास प्रकाशित करने का आश्वासन मामा को दिया था। लेकिन इस उपन्यास में मार्क्सिज्म एवं अक्तूबर क्रांति का समर्थन है, इस बात को लेकर प्रकाशक ने अपना विचार बदल दिया। आगे चलकर इसी उपन्यास को प्रकाशित होने का अवसर 1947 मे प्राप्त हुआ, तब देश को स्वाधीनता प्राप्त हो चुकी थी। मराठी साहित्य के आलोचकों की दृष्टि में यह उपन्यास सर्वथा उपेक्षित रहा। फिर भी सराहना करने का मोह इसलिए है, क्यों कि 1920 के लगभग जब कि ब्रिटिश सरकार भी मार्क्सिज्म - लेनिनिज्म को कड़ा विरोध कर रह थी। मामा ने उपन्यास के द्वारा उसको निर्भीकता के साथ प्रस्तुत कर दिया। निःसंदेह ही यह मामा वरेरकर का बड़ा ही साहसपूर्ण कार्य था।

बहुचर्चित उपन्यास 'धावता धोटा' (दौड़ती पुतली)

'विधवा कुमारी' (सन 1928) के बाद मामा ने सन 1933 में 'दौडती पुतली' (धावता धोटा) उपन्यास प्रकाशित किया। इस अपन्यास में मुम्बई के मिल मज़दूरों के वास्तविक जीवन का, उनके आंदोलन का और उनकी समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया। यह उपन्यास बहुचर्चित तो था ही, लेकिन इसी उपन्यास ने मामा को इतनी सफलता दी कि साहित्य के इतिहास मे उपन्यासकार के नाते उनकी सही पहचान इसी उपन्यास से हो गयी।

'विधवा कुमारी' ने नारियों की समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान खींच लिया एवं 'पुतलीघर' (इसी नाम से 'धावता धोटा' का हिंदी में अनुवाद हो चुका है।) उपन्यास लिखकर मामा ने मज़दूरों की समस्याओं और मालिक-मज़दूरों के संघर्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया। कपडा मिल में मज़दूरों और मालिक के बीच छोटी छोटी बातो को लेकर किस प्रकार संघर्ष की चिनगारी पड़ जाती है और उसके कैसे कैसे शोले भडकते हैं इन सब बातों को मामा ने इस प्रकार चित्रित किया है मानो उनकी अपनी ही समस्याएँ हों। इस उपन्यास में लेखक ने मुम्बई की कपड़ा मिलों में काम करनेवाले और परेल-लालबाग की

बस्ती में रहनेवाले मज़दूरों और वहाँ के मिल मालिकों के अन्तरंग जीवन का बड़ी आत्मीयता एवं बारीकियों के साथ वर्णन किया है। मज़दूरों के आंदोलन का नेतृत्व करनेवाला नायक और नायिका अपने नये रूप में पेश आये। मध्यमवर्गीय साहित्यकृतियों मे यह रूप अनोखा एवं अजनबी सा ही था। आलोचकों ने आपत्ति उठायी थी कि उपन्यास की कथावस्तु अतिरंजित है और उपन्यास की नायिका 'बिजली' जो 'विधवा कुमारी' उपन्यास की नायिका 'मथू' से कहीं ज्यादा विद्रोही तथा क्रांतिकारी नारी के रूप में प्रस्तुत है, सर्वथा काल्पनिक और वायवी है। लेकिन यथावकाश इन आलोचकों को ही पता चला कि कथावस्तु एवं पात्रनिर्मिति की वास्तविकता का प्रमाण तो उपन्यास में ही मिलता है। प्रगतिशील साहित्यकृति की दृष्टि से नवमतवादी एवं मार्क्सवादी आलोचकों ने इस उपन्यास की बेहद तारीफ की। वामन मल्हार जोशी के लिखे उपन्यास 'सुशिलेचा देव' मे नायिका प्रगतिशील होने के कारण सिद्धान्त के तौर पर नवमतवाद पर बहस करती है। लेकिन मामा वरेरकर के उपन्यास की नायिका 'बिजली' वर्गसंघर्ष के कारण प्रत्यक्ष आंदोलन का नेतृत्व करती है। इसीलिए उसका चित्रण अधिक यथार्थ है। वास्तविकता के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से 'दौडती पुतली' अथवा 'पुतली घर' (धावता धोटा) मराठी उपन्यास के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ है। मराठी उपन्यास मध्यमवर्गीय जीवन के अनुभव विश्व की परिधि से हटकर शोषित पीड़ित वर्ग के अंतरंग जीवन में झाँकने लगा।

मामा के उपन्यास में सामाजिक वास्तविकता

'विधवा कुमारी' उपन्यास के पहले मामा वरेरकर ने सन 1926 में 'चिमणी' नाम का लघु उपन्यास लिखा था। इस साहित्यकृति के सृजन में मामा नाकामयाब रहे और यह उपन्यास भी नगण्य रहा।

मामा ने करीब सत्ताईस सामाजिक उपन्यास लिखे जिनमें 'विधवा कुमारी', 'दौडती पुतली' के अलावा 'गोदू गोखले' (पूर्वार्ध 1932 उत्तरार्ध 1933), 'पुनर्भेट' (1934) अर्थात् 'विधवा कुमारी' का उत्तरार्ध, 'वेणू वेलणकर' (1937), 'सात लाख में एक' (सात लाखाची गोष्ट, 1940), 'मैं राम जोशी' (मी राम जोशी, 1941), 'सिपाही की बीवी' (शिपायाची बायको, 1943) 'लड़ाई के बाद' (लढाईनंतर, 1947) आदि महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपन्यास हैं। ध्यान रहे कि ये सभी उपन्यास सामाजिक उपन्यास हैं।

मामा वरेरकर ने अपने उपन्यासों में भारतीय जन-मानस की प्राय: सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास किया था। उन्होंने एक ओर सामाजिक पृष्ठभूमि पर अपने उपन्यासों की रचना की तो दूसरी ओर राजनीतिक जनजागरण की दृष्टि से मज़दूर - मालिकों के संघर्ष का चित्रण किया। राजनीतिक गतिविधियों से प्रभावित लोकमानस की अन्तरतम गहराइयों में पैठकर उन्होंने भारतीय समाज के निम्न मध्यमवर्ग की ऐसी अनेक समस्याओं की ओर ध्यान खींचा जो वास्तव में हमारे जनजीवन में धुन की तरह फैलकर उसे खोखला बना रही थीं।

'न पुजलेली देवता' (1944) उपन्यास मे लेखक ने भारत के निम्न मध्यवर्गीय परिवारों की चिरंतन समस्या को कथा का मूल आधार बनाया है जिसके कारण सारा समाज ही संत्रस्त है। अच्छे घर ढूँढने, सुंदर वर खोजने और सुचारू गृहस्थी चलाने की समस्या आज भी हमारे मध्यमवर्गीय परिवारों को परेशान किये हुए है। समकालीन महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं से संबंधित कथावस्तु और चरित्र-चित्रण की सजीवता एवं मार्मिकता इस उपन्यास की विशेषता हैं।

'खिलती कली' (उमलती कळी, 1937) उपन्यास में लेखन ने परम्परावादी विचारों को आधुनिक जीवन के लिए अनुपयुक्त सिद्ध करते हुए सर्वथा नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में मामा वरेरकर ने समाज के पुराने परम्परागत अन्धविश्वासों, रूढियों और प्रतिबंधो पर करारा आघात करते हुए अपने उपन्यास के पात्रों में नये आदर्शों के प्रति चेतना भी भर दी है। अपने समाज के वास्तविक परिवेश और महाराष्ट्र के मध्यमवर्गीय परिवारों की स्थिति का यथार्थवादी चित्रण करने में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली। इसके अलावा इस उपन्यास की और एक विशेषता है। उपन्यास में प्रचलित धार्मिक विश्वासों की खिल्ली उडाते हुए मामा ने नवमतवाद अर्थात पुरोगामी विचारों की प्रतिष्ठापना करने के प्रयास किये हैं।

मामा के उपन्यासों में नवमतवाद

गांधीवादी और साम्यवादी विचारधाराओं से प्रभावित होने के कारण मामा की जीवनदृष्टि व्यापक हुई थी। वे पुराणमतवादी अथवा परम्परावादी नहीं, सुधारवादी अवश्य थे। उनका आविर्भाव ऐसे कालखण्ड में हुआ था जिसमें राजनीति, समाजनीति और धर्मनीति के क्षेत्र में ध्येयवाद और आदर्शवाद का उद्‌बोधन हो चुका था। और लोगों के सामने नये आदर्श रखे जा रहे थे।

विष्णुशास्त्री चिपलुनकर की 'निबंधमाला' ने (1874) तत्कालीन शिक्षित मध्यवर्ग को जीवन और साहित्य की ओर देखने की नयी दृष्टि दी जो राष्ट्रवादी भी थी। गोपाल गणेश आगरकर चिपलुनकर की परम्परा का स्वीकार करनेवाले भी थे और समाजसुधारवादी भी। अपनी 'सुधारक' पत्रिका के द्वारा उन्होंने सदियों पुराने अन्धविश्वासों, रूढियों और पारंपरिक चालचलन पर कुठाराघात करते हुए समाज का नवजागरण किया। पाश्चिमात्य साहित्य के परिचय से समता, स्वाधीनता और बंधुता जैसे उदार मानवतावादी विचारमूल्यों का अधिकाधिक गहरा प्रभाव उस समय की कृतियों में परिलक्षित होता रहा।

जैसा कि पहले ही इसका उल्लेख किया गया है इसी कालखण्ड में कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में हरि नारायण आपटे, कविता के क्षेत्र में 'केशवसुत' और नाटक के क्षेत्र में श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर आदि साहित्यकारों ने साहित्य को जीवनोन्मुख तथा समाजोन्मुख बना दिया था। फलत: मराठी साहित्य में यथार्थवादी लेखन की एक प्रभावी धारा प्रवाहित हो गयी थी। मामा वरेरकर का आविर्भाव इसी कालखण्ड में हुआ। उनके जैसे संवेदनशील

एवं जागरूक कलाकार का अपने काल की विचारधाराओं से संस्कारित एवं प्रभावित होना बिल्कुल स्वाभाविक था।

अधिकांश सुधारवादी साहित्यकारों का ध्यान तत्कालीन नारियों की समस्याओं ने खींच लिया था। मामा इसके लिए अपवाद नहीं थे। उन्होने कुशलता के साथ नारी हृदय की अंतरतम गहराइयों में उतरकर उनकी स्वाभाविक संवेदनाओं को इतनी कुशलता से उभारकर पाठकों के समक्ष रखा है कि पाठकों को सहज सहानुभूति एवं आत्मीयता उपन्यास के पात्रों की मिल ही जाती है।

मामा वरेरकर के लिखे नाटक और उपन्यास सर्वथा सामाजिक माने जाते हैं क्यो कि वे साहित्यकृतियाँ सामाजिक समस्याओं पर आधारित हैं।

मामा के उपन्यासों में प्रस्तुत सामाजिक समस्याओं का चित्रण

हमारे सामाजिक जीवन में और अनुभव विश्व में कोई भी ऐसी समस्या न होगी जो मामा वरेरकर के उपन्यासों में न आई हो। 'द्राविडी प्राणायाम' (1944) और 'सात लाख में एक' (1940) उपन्यासों की पृष्ठभूमि राजनीतिक तथा सामाजिक है। 'सिपाही की बीवी' (1943) में लेखक ने एक अत्यंत साधारण परिवार में होनेवाले उतार-चढ़ाओं का ऐसा मार्मिक चित्रण किया है कि हर पाठक के लिए वह सहज ग्राह्य हो गया है। मामा को जहाँ कहीं अवसर मिला सामाजिक जीवन की बहुविध समस्याओं का युगानुरूप समाधान भी उपन्यास में उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अपनी युगीन परिस्थितियों का चित्रण करते हुए उपन्यासकार ने इस उपन्यास के पात्रों को ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया है कि हमारे पाठक जिनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। उपन्यास का रूप छोटा होते हुए भी उसकी प्रभावान्विति अत्यंत मर्मस्पर्शी है।

'सात लाख में एक' (सात लाखाची गोष्ट, 1940) यह उपन्यास ग्रामोद्धार के आंदोलन पर आधारित है। मामा की यह धारणा थी कि देहातों में जो दु:स्थिति है उसके मूल कारणों की खोज करने का प्रयास कोई भी नहीं करता। उनकी यह धारणा थी कि विदेश की विचारधाराओं को उन पर थोपने से देहातियों की उन्नति असंभव है। उन्होंने तो यह भी साबित करने का प्रयास किया कि देहातों में 'आर्थिक पूँजीवाद' की अपेक्षा 'धार्मिक पूँजीवाद' कहीं अधिक प्रभावी है। यह तो जाहिर है कि मामा ग्रामीणों के धार्मिक शोषण की ओर निर्देश करना चाहते थे। विदेशी विचारधारा की दृष्टि से देहात की ओर देखनेवाले कांग्रेस सेवक तो आँख मिचौनी का ही खेल खेलते है। ऐसी भी टीका टिप्पणी मामा ने की है। इस उपन्यास में परम्परावादी अंधविश्वासों के खिलाफ अकेले ही संघर्ष करने वाले शिवा लोहार की मर्मस्पर्शी कहानी है। प्रगतिशील देहाती की यह व्यक्तिरेखा मामा के समकालीन उपन्यासकारों की कृतियों में अभावरूप में ही दिखाई देती है।

मामा वरेरकर का यह दृढविश्वास था कि जब तक बहुजन समाज में पर्याप्त जागृति नहीं होती, तब तक समाज परिवर्तन की प्रक्रिया गतिमान नहीं होगी। इसी लिए मामा का

ऐसा विचार था कि लोकरंजन के साथ ही लोकशिक्षा की आवश्यकता होने के कारण साहित्य जैसे मनोरंजन के माध्यम को लोकजागरण के लिए अपनाना होगा। अपने इस दृढ विचार के कारण ही उन्होंने 'मै राम जोशी' (मी राम जोशी, 1941) उपन्यास लिखा। महात्मा गांधी ने स्वाधीनता संग्राम के आंदोलन को रचनात्मक सामाजिक कार्यो के साथ जोड़ दिया था जिस में ग्रामोद्धार, अछूतोद्धार और खादी तथा स्वदेशी का प्रचार जैसे कार्यक्रम थे। यह उपन्यास इसी प्रकार के कार्य के प्रसार-प्रचार पर आधारित है। उपन्यास का नायक बड़ी आत्मीयता से लोककला के माध्यम द्वारा इन कार्यों का प्रसार करते हुए जनजागरण करने के प्रयास में जुटा हुआ दृष्टिगत होता है।

मामा वरेरकर के लिखे हर उपन्यास में सामाजिक वास्तविकता का चित्रण सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य से ही होता रहा है। साहित्य सृजन के इस प्रसारमाध्यम से सामाजिक जनजागरण करना उनकी अपनी विशेषता थी।

मराठी साहित्य के आलोचकों ने मामा के उपन्यास लेखन पर कई बार यह आपत्ति उठा रखी है कि उनके उपन्यासों में कलात्मकता का अभाव महसूस होता है। सामाजिक उद्देश्य, सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि और समस्याओं का समाधान करने का आश्वासन देनेवाली विचारधाराओं का समर्थन आदि के कारण मामा के लिखे उपन्यास अधिक तर प्रचारात्मक रहे हैं। कलावादी आलोचकों की दृष्टि से साहित्यकृति एक विशुद्ध कला होने के नाते सौंदर्यनिर्मिती और कला के द्वारा अलौकिक आनंद, यही ललित साहित्य का अंतिम उद्देश्य है। कला के रूप मे साहित्यकृति अपने आप में स्वयंभू, स्वतंत्र, स्वायत्त और साध्यात्मक ही मानी जाती है। साहित्यकार के नाते मामा वरेरकर साहित्य की ओर साधनात्मक दृष्टि से ही देखा करते हैं। सामाजिक समस्याओं को वाणी प्रदान करना यह भी साहित्य का उद्देश्य है, ऐसी उनकी धारणा थी।

मामा की उपन्यास लेखन की भूमिका

उपन्यास लेखन की ओर देखने की मामा वरेरकर की अपनी ही एक भूमिका थी जिस पर वे आजीवन बड़ी दृढता के साथ डटे रहे। अपने उपन्यास लेखन की भूमिका स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा, "मैं यह नहीं मानता कि उपन्यास लेखन से कल्पनाविलास का कुछ ताल्लुक है। काल्पनिकता का व्यवहार ही अलग है। मेरी अपनी दृष्टि से उपन्यास यह एक तरह से इतिहास है। उपन्यास के रूप में समाज का इतिहास लिखते हुए वास्तविकता और ईमानदारी पर पहले ध्यान देना चाहिए। ऐसा इतिहास लिखते समय भविष्य की दृष्टि से कुछ आदर्श चित्रण प्रस्तुत करना अनिवार्य है। ऐसा आदर्श चित्रण वर्तमान वास्तविकता का ही एक रूप होता है। इसीलिए ध्येयोन्मुख आदर्श चित्रण से वास्तविकता को क्षति नहीं पहुँचती। मेरे उपन्यास मेरे अपने समकालीन इतिहास की 'बखर' है।"

लेनिन का भी ठीक ऐसा ही मंतव्य था। उनकी दृष्टि से साहित्यकृति लेखक के अपने युग के इतिहास का दस्तावेज होती है। सच्चे अर्थ से मामा के उपन्यास समकालीन सामाजिक

इतिहास के प्रामाणिक दस्तावेज हैं।

अरबी जबान में तवारिख शब्द का अर्थ इतिहास होता है। और खबर का अर्थ वार्ता अथवा जानकारी। इन दोनों शब्दों के मेल से 'बखर' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। प्राचीन मराठी में 17 वी - 18 वी सदी में जो गद्यलेखन हुआ वह इसी नाम से पहचाना जाता है। शिवाजी महाराज और पेशवाओ के कालखण्ड में जो जो घटनाएँ घटीं उनकी खबरें अर्थात् उनका इतिहास इसी प्रकार गद्य के रूप में लिखा गया। लेकिन बखरनवीसों ने इन खबरों को ऐसी शैली में प्रस्तुत किया जिसे अपने आप उपन्यास का सहज रूप प्राप्त हुआ। इसी लिए प्राचीन साहित्य में 'बखर' गद्य की ओर इतिहास की दृष्टि से भी देखा जाता है और उपन्यास की दृष्टि से भी। उदाहरण के लिए 'भाऊसाहब की बखर' का उल्लेख किया जाता है। वास्तविकता और काल्पनिकता का सहज सुन्दर समन्वित रूप मिल जाता है 'बखर' में। मामा वरेरकर के लिखे उपन्यासों की यही विशेषता होने के कारण उन्होने अपने उपन्यासों को अपने समकालीन इतिहास की 'बखर' कहा है।

जैसा कि पहले कहा है विख्यात तत्त्वचिंतक लेनिन भी साहित्य कृति की ओर समकालीन इतिहास के दस्तावेज के रूप में देखा करता था। माक्झिम गोर्की ने भी इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि समसामायिक वास्तविकता की तरह भविष्यकालीन वास्तविकता भी होती है जिसे कुछ लेखक नजरअंदाज करते हैं। पता नहीं उस जमाने मे मामा वरेरकर ने लेनिन अथवा गोर्की का यह भाष्य पढ़ा था या नहीं। लेकिन उन्होंने अपने उपन्यासों में समकालीन वास्तविकता का यथार्थ चित्रण भी किया जिस पर कलावादी आलोचकों ने आपत्ति उठाते हुए उनके उपन्यासों पर प्रचार की साहित्य की मुहर ठोक दी।

कुसुमावती देशपांडे ने 'मराठी उपन्यास की एक सदी' नामक उपन्यास के इतिहास में मामा वरेरकर के लिखे उपन्यासो पर इसी तरह की टीकाटिप्पणी की कि मामा अपने मानसपुत्र और मानसकन्याओं को अधिकतर कर्तृत्ववान चित्रित करते हुए वास्तविकता में काल्पनिकता को, स्वप्नरंजन को ऐसा मिला देते हैं कि घटनाओं की संभाव्यता (Probabality) ही संदेहात्मक प्रतीत होने लगती है। अरस्तू ने तो इशारा दे ही रखा है कि साहित्यकृति में संभाव्य (Probable) और अनिवार्य (Inevitable) घटनाओं तथा व्यक्तिरेखाओं का चित्रण प्रस्तुत होता है। ऐसा लगता है कि शायद मामा वरेरकर ने अरस्तू की सूचना एवं तथ्य को ठीक से नहीं जाना हो।

परिवार में शिक्षा की कोई परम्परा अथवा पृष्ठभूमि न होते हुए भी उनके उपन्यास में नायिका विश्वविद्यालय की बी.ए. - एम.ए. जैसी परीक्षाएँ पास कर लेती है। डी.लिट. की उपाधि के लिए भी प्रबंध लिखा करती है। और आगे चलकर आश्चर्य की बात तो यह है कि उसका नूतन स्कूल मास्टर उसे टिप्पणियाँ तैयार करने में पूरी मदत करता है। यह प्रसंग मामा के लिखे 'द्राविडी प्राणायाम' उपन्यास में है। कुसुमावती देशपांडे की आलोचक दृष्टि से यह सब अस्वाभाविक, कृत्रिम अथवा बिल्कुल अवास्तविक है। उपन्यासों में अपनी

नायिका को मामा वरेरकर मेधावी, कर्तृत्ववान, बुद्धिमान, चतुर नारी के रूप में चित्रित करते है। और इनके विरोध में पुरुष पात्रो को ऐसे चित्रित करते हैं कि उनमें समुचित गुणों का बिलकुल अभाव ही रहा हो। लेखक ऐसा चित्रण जानबूझ कर करता है क्यों कि वह साबित करना चाहता है कि अब भविष्यकाल में नारी समाजव्यवस्था में रूढि परम्पराओं की शिकार नहीं बनेगी और सामाजिक दासता के बंधनों को तोड़कर अपने व्यत्तित्वविकास के लिए विद्रोही भूमिका अपनाते हुए सर्वथा स्वतंत्र होने का प्रयास करेगी। नारी की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लेखक आवेश के साथ चित्रित करना चाहता है। लेकिन आलोचक ऐसा दावा करते थे कि इस प्रकार का नारी का चित्रण अवास्तव होने के कारण नारियों के प्रति उदारता और सहानुभूति की दृष्टि से देखनेवाले समाज सुधारवादी भी इस बात से सहमत नही होंगे। किसी भी प्रकार की अवास्तविकता का स्वीकार करने की मानसिकता सर्वप्रथम पाठकों में पैदा होनी चाहिए। साहित्यकृतियों के द्वारा ऐसी मानसिकता तैयार की भी जा सकती हे। खेद के साथ कहना होगा कि मामा अपने उपन्यासों के माध्यम से ऐसा करने में असफल रहे हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि मामा वरेरकर के सारे उपन्यास सदोष हैं अतएव असफल हैं। एक बात तो सही है कि सभी आलोचकों ने टीका-टिप्पणियाँ करते हुए भी इस वस्तुस्थिति का स्वीकार किया कि मामा वरेरकर ने उपन्यास के क्षेत्र में कदम रखते ही सामाजिक समस्याओं के चित्रण को नया मोड़ दिया। साथ ही सामाजिक वास्तविकता का यथार्थ चित्रण किया और उपन्यास में अनुभव विश्व को नया आयाम दिया।

मामा वरेरकर नारी मुक्ति के पक्षधर थे और उनके प्रति हमदर्द भी। इसी लिए उन्होंने प्रस्थापित रूढियों, परम्पराओं के दृढ बन्धन को तोड़कर सर्वथा स्वतंत्र आचरण और व्यवहार करने वाली नायिका को आदर्श रूप में चित्रित करने के प्रयास बड़ी ही निष्ठा के साथ किये। उनके उपन्यास की रचना सरल, सहज और सीधी है। उनकी निवेदन शैली भी सरल है। और भाषा भी अकृत्रिम, सहज और स्वाभाविक है। उनकी साहित्यविषयक भूमिका तो उपदेशवादी थी। इसी लिए उन्होंने साहित्य संमेलन के अध्यक्षीय भाषण में ही स्पष्ट किया था, "सामाजिक वास्तविकता का चित्रण करते हुए समाज में मनुष्य के आचारव्यवहार में प्रचलित गंदगी को उछालने मे मुझे रूचि नहीं। समाज स्थिति कैसी होनी चाहिए इस बात की ओर समाज का ध्यान खींचना मुझे कहीं अधिक पसन्द है।"

मामा वरेरकर के उपन्यासों में आदर्शवाद को ही आलोचकों ने टीकाटिप्पणी का लक्ष्य बनाया। इसका कारण मामा की साहित्यविषयक भूमिका में है। उनके द्वारा प्रस्तुत उपन्यासों पर अवास्तविकता, छद्म वास्तविकता और स्वप्नरंजन की आपत्ति उठाने वाले आलोचकों ने टीका टिप्पणी करते हुए यह भी कहा कि मामा वरेरकर के उपन्यासों पर शरत्चंद्र के साहित्य का गहरा प्रभाव दृष्टिगत होता है। खास तौर पर उनके द्वारा प्रस्तुत 'मैं राम जोशी' (1941) उपन्यास की सराहना करते हुए कुसुमावती देशपांडे ने ही लिखा, "शरच्चंद्र की

साहित्य की जो सेवा मामा वरेरकर ने की है उसकी सफलता का सारा श्रेय इस उपन्यास को दिया जाना चाहिए।''

एक बात स्पष्ट है कि मामा वरेरकर के उपन्यास साहित्य की समीक्षा करनेवाले अधिकांश समीक्षको ने मामा वरेरकर के द्वारा लिखे हुए उपन्यासों में चित्रित सामाजिक वास्तविकता एवं उपन्यास की नायिकाओं तथा अन्य पात्रों के चरित्र चित्रण के मुद्दों पर विशेष बल दिया है। उस पर एक आपत्ति यह भी उठाई गयी कि मामा वरेरकर ने अपने उपन्यास में चित्रित पात्रों को अपने विचारों के प्रकटीकरण का माध्यम बनाया है। दूसरे शब्दों मे कहना हो तो कह सकते हैं कि मामा के ये पात्र जीते जागते स्वतंत्र व्यक्तित्ववाले व्यक्ति नहीं मामा के हाथों की मात्र कठपुतलियाँ हैं। लेखक ने पात्रों के मुँह से अपने ही विचारों को वाणी प्रदान की है। फलत: मामा के द्वारा लिखे हुए उपन्यास में कलात्मक अभिव्यक्ति कम और प्रचारात्मकता ही अधिक महसूस होती है।

सामाजिक वास्तविकता के आधार पर मामा वरेरकर ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन समाज की नारियों, मज़दूरों, अछूतों के जीवन से संबंधित सभी सामाजिक समस्याओं को वाणी प्रदान करने का प्रयास किया है। ध्यान रहे कि उनमें से कई समस्याओं को तो मामा के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने छुआ तक नहीं। मामा वरेरकर ने अपने उपन्यास में न केवल कथानक तथा उससे संबंधित पात्रों के द्वारा समस्याओं का मात्र प्रस्तुतीकरण किया अपितु उसके साथ साथ उन समस्याओ का समाधान करनेवाली नयी विचारधाराओं का, तत्त्वविचारों का समर्थन करते हुए प्रचार प्रसार भी किया। वि.वा. आंबेकर जैसे आलोचकों ने इस बात का स्वीकार करते हुए मामा वरेरकर की इस विशेषता की खुलकर सराहना की है। उन्होंने अपने उपन्यासों में ऐसे ही कुछ नारी पात्र चित्रित किये जिन्हे देखकर ऐसा महसूस होता है कि शायद उन्हें विद्रोही वृत्ति का वरदान ही मिला हो। ऐसे विभिन्न स्तरो के विविध पात्र लेखक ने चित्रित किये जिन में नवीनता और विद्रोह की छटपटाहट थी जिसका वे प्रचार प्रसार करना चाहते थे। भले ही आलोचकों की टीकाटिप्पणी के मुताबिक मामा वरेरकर के उपन्यासों में वास्तविक सृष्टि की अपेक्षा कल्पित सृष्टी का ही कहीं अधिक चित्रण मिलता है, तथापि यह बात भी तो सच है कि उनके उपन्यासों की कल्पित सृष्टि व्यापकता और विविधता के कारण आकर्षक बनी हुई है। मामा वरेरकर उपन्यास के रचनाशिल्प में कलात्मकता की अपेक्षा मतप्रचार को ही कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। अपने अपने उपन्यासों में वे मतप्रचार की ऐसी धुआँधार बौछार कर देते थे कि पाठक कलात्मकता के अभाव को प्राय: नजरअंदाज ही करते। उनके उपन्यासों की यह लक्षणीय खूबी रही है।

अपने उपन्यासों में मामा वरेरकर ने पुरानी रूढियों, रीतिरिवाजों और परम्पराओं की जमकर खिल्ली उडायी है। परिणामस्वरूप रूढि परम्पराओं की गंभीरता और अनिवार्यता हास्यास्पद बन गयी। शायद यह भी उनकी खूबी थी। किसी भी समस्या को उन्होने गंभीरता

पूर्वक लिया ही नहीं। इसका शायद एक कारण यह भी है कि उनका विश्वास था और वे यह साबित भी करना चाहते थे कि रूढि परंपरा एवं चालचलन की रीतियाँ अपरिहार्य अथवा आवश्यक, बंधनकारक नहीं है। व्यक्ति एवं समाज की प्रगति के लिए समय के अनुसार उनमें आवश्यक परिवर्तन लाना नामुमकिन ही नहीं, स्वाभाविक और सहजसंभव भी है। समय समय पर ऐसे परिवर्तन के लिए विद्रोही भूमिका अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता होती है। वे इसी तथ्य को लोकमानस में उतारना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने हेतुपूर्वक अपने उपन्यासों में नारियों को विद्रोही रूप में ही प्रस्तुत किया। कभी ऐसा भी हुआ है कि लेखक के द्वारा प्रस्तुत नायिकाओं ने स्त्रीसुलभ सहज प्रवृत्तियों एवं मर्यादाओं का लापरवाही से उल्लंघन किया। अपने ही तैश मे निर्भीकता के साथ आचरण करते हुए पुरुषो को नामोहरम करने की कोशिश की है। तत्कालीन पाठकों को नारी का यह नया रूप-चित्रण अस्वाभाविक एवं अप्रीतिकर महसूस होना स्वाभाविक ही था क्यों कि उनकी *मानसिकता में हरि नारायण आपटे के उपन्यास की नायिका 'यमू' और वामन मल्हार जोशी* के उपन्यास की नायिका 'रागिणी' की छबि बसी हुई थीं। आपटे उदारवादी सुधारक थे और जोशी थे तत्त्वचिंतक सुधारक। नारी को सामाजिक दासता से मुक्त करने एवं अपने व्यक्तिविकास के लिए समाजव्यवस्था में ही आवश्यक बदलाव लाने की भूमिका के वे दोनों पक्षधर थे। उनका यह विश्वास था कि इस बदलाव की प्रक्रिया का आरम्भ स्त्री-पुरुष समानता का आग्रह तथा स्त्री-शिक्षा के माध्यम से ही होना उचित है। इसी कारण तत्कालीन कई जाने-माने सुधारकों ने महिला-शिक्षा पर विशेष बल दिया। वस्तुत: सर्वथा वायवी कल्पना विश्व में उनको इतनी रूचि नहीं थी जितनी नारी के व्यक्तिविकास एवं नारी के सर्वथा स्वतंत्र विचारों की अभिव्यक्ति में थी। हरि नारायण आपटे की 'यमू' परम्पराओं से अलग हटकर नारी शिक्षा का पुरस्कार करती रही। और वा. म. जोशी की 'रागिणी' पुरुषों के बराबरी से काव्यशास्त्र विनोद में खुलकर नि:संकोच रूचि लेती रही। फलत: नारी के व्यक्तित्व को नये आयाम अवश्य मिले। पूर्ववर्ती प्रचलित रूढि परम्पराओं को ठुकराकर आगे निकलते हुए 'यमू' अथवा 'रागिणी' ने नारी जाति की स्वाभाविक मर्यादाओं का उल्लंघन करने का साहस कदापि नहीं किया।

मामा वरेरकर ना तो उदारवादी सुधारक थे ना तत्त्वचिंतक सुधारक। वे तो क्रांतिवादी सुधारक थे। इसी लिए अपने उपन्यासों की नायिका कों 'यमू' अथवा 'रागिणी' के ढाँचे में ढालना उनके लिए असंभव था। मामा की यह दृढ धारणा थी कि नारी की सामाजिक दासता के लिए समाजव्यवस्था जितनी जिम्मेदार थी, उससे कई अधिक पुरुषप्रधान व्यवस्था भी जिम्मेदार थी। इस समाजव्यवस्था में सदा के लिए पुरुष का वर्चस्व रहा। इस स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए नारी की ओर उदार दृष्टि से देखना अथवा उसके साथ बराबरी के नाते से मात्र काव्यशास्त्र की, हास्यपरिहास की चर्चा करना पर्याप्त नहीं है। नारी मुक्ति के लिए पुरुषप्रधान समाज व्यवस्था से विद्रोह करना अपरिहार्य है। इसी कारण मामा वरेरकर

के उपन्यासों में 'मथू' (विधवा कुमारी), 'गोदू' (गोदू गोखले), 'वेणू' (वेणू वेलणकर), 'बिजली' (दौडती पुतली), 'किकी' (फटी हुई कंबल) आदि बहुचर्चित नायिकाएँ ह. ना. आपटे की 'यमू' और वा. म. जोशी की 'रागिणी' अथवा 'सुशिला' से कुछ आगे बढकर विद्रोही बनीं।

आज यह सर्वश्रुत और सर्वमान्य वस्तुस्थिति है कि वीसवीं सदि के उत्तरार्ध में जो नारी मुक्ति के नारे लगा कर आंदोलन छेड़े गये, मामा वरेरकर के उपन्यास की नायिका ही उनकी अग्रदूत बनकर सामने आयी।

मामा के लिखे अधिकांश उपन्यास नायिका प्रधान हैं। फिर भी उपन्यासों में कथावस्तु के अनुरूप 'बाबा शिगवण', 'कान्हू कृष्णा', 'जिवा लोहार', 'सिधू भाऊ' जैसे जुझारू नायक भी चित्रित किये गये हैं, जो प्रगतिवादी क्रांतिकारी विचारधारा को जनमानस में उतारने के पक्षधर थे।

मामा की कहानियाँ

उपन्यास के साथ मामा वरेरकर ने कहानियाँ भी लिखी हैं। 'स्वैरसंचार' (1932), 'षोडशी' (1936) और 'हवाई जहाज पर हमला और अन्य कहानियाँ (1938) मामा के लिखे हुए कहानियों के ये संग्रह विशेष विख्यात हैं। इसके अलावा उनकी कई कहानियाँ समय समय पर विविध अख़बारों में छपी हुई हैं। लेकिन असंग्रहित रहने के कारण उनकी विशेष जानकारी न आलोचको को रही है और न पाठकों को भी।

यह भी सच है कि उपन्यासकार और नाटककार के नाते अधिक परिचित एवं विख्यात होने के कारण आलोचकों तथा साहित्येतिहासकारों ने मामा के लिखी कहानियों की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया होगा। मराठी साहित्य के इतिहास मे एक बात दृष्टिगत होती है कि कोई लेखक नाटककार हो अथवा उपन्यासकार अभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार साहित्य की हर विधा में कुछ कुछ लिखा करता था। उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है कि शिवराम महादेव परांजपे तिलक युग के जहाल राष्ट्रवादी निबंधकार के रूप में ही विख्यात हैं। अपने लिखे वैचारिक निबंधों में वे प्रचलित राजनीति पर उपहास, उपरोध एवं व्यंग्य के माध्यम से तीखे प्रहार करते थे। लेकिन जब जरूरत पडी तब राष्ट्रीय एवं देशभक्ति की भावना को स्वर देने का प्रयास उन्होंने कहानी के माध्यम से किया है। महारथी कर्ण के जीवन पर उन्होंने एक नाटक भी लिखा है। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर तो नाटककार थे ही। पर उन्होंने कुछ हृदयग्राही कहानियाँ और सामाजिक समस्याओं को लेकर दो उपन्यास भी लिखे। साहित्यसम्राट न. चिं. केलकर ने तो साहित्य की सभी विधाओं में लेखन किया। साहित्य के विकास के दौरान दैनिक एवं मासिक-पत्रपत्रिकाओं की संख्या बढ़ती चली जाने के कारण और इन माध्यमों में दीर्घ उपन्यास अथवा नाटक को नहीं लघुकहानियों को ज्यादा अवसर प्राप्त होने के कारण साहित्यकार अपने अनुभवों को स्वर देने के लिए जरूरत के मुताबिक कहानियाँ भी लिखा करते थे। 'कलावाद' के पक्षधर ना. सी. फडके और

'जीवनवाद' के पक्षधर वि. स. खांडेकर ख्यातनाम उपन्यासकार थे और कहानीकार भी।

1920 के लगभग मराठी नाट्यकला और रंगमंच के क्षेत्र मे न्हासकाल का आरम्भ हुआ तब मामा वरेरकर के नाटकों ने मराठी रंगभूमि को नयी संजीवनी देने के प्रयास किये। उसी समय फडके-खांडेकर जैसे लेखकों ने उपन्यास और कहानी पर बल दिया। उसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए य. गो. जोशी, वि. वि. बोकील, साने गुरूजी, ग. ल. ठोकल आदि लेखकों ने इन्हीं दो साहित्यविधाओं को समृद्ध किया। साहित्य के इतिहास में 'फडके-खांडेकर' युग उपन्यास और कहानी का भी संपन्न युग माना जाता है।

नाटककार के रूप में मामा वरेरकर तो इसी 'फडके-खांडेकर' युग के साक्षी हैं। अपने समकालीन साहित्यकारो की भाँति उन्होंने उपन्यास लिखे और कहानियाँ भी लिखीं। उनके लिखे हुए उपन्यासों की कथावस्तु, पात्रों का चरित्र चित्रण आदि तत्त्व उनकी लिखी हुई कहानियों में भी परिलक्षित होते हैं। शोषित पीडित मज़दूरों और निम्नवर्गीय जनजीवन की समस्याओं को उनके उपन्यासों की भाँति कहानियों में भी स्थान प्राप्त हुआ है। गुणवैपुल्य एवं विषयवैचित्र्य की दृष्टि से उनकी कहानियाँ उपन्यास की तरह ही भरी हुई हैं। कथावस्तु, कथनकौशल, प्रसंगों-घटनाओं एवं पात्रों के चित्रण में मनोविश्लेषण की प्रधानता आदि विशेषताएँ उनकी लिखी हुई कहानियों में भी विप्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। तथापि उनकी कहानियों की एक खूबी विशेषरूप मे दृष्टिगत होती है। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा मामा ने व्यक्तिचित्रण पर अधिक बल दिया। इसी के कारण उनकी लिखी कहानियाँ 'व्यक्तिचित्र' एवं 'शब्दचित्र' के रूप में ही पहचानी जाती हैं।

व्यक्तिचित्र एवं शब्दचित्र तो कहानी की ही एक उपजाति है। इस उपजाति का ज्यादा तर विकास हुआ नहीं। माधवराव बागल, कुमार रघुवीर, वि. द. घाटे आदि लेखकों ने आगे बढ़कर सशक्त शब्दचित्र दिये है। लेकिन इस विधा मे मामा वरेरकर ही अग्रदूत हैं। इस बात पर मामा के लिखे उपन्यासों पर आपत्ति उठाने वाले आलोचकों ने ज्यादा ध्यान ही नहीं दिया।

युगचेतना की पहचान

हर कालखण्ड की अथवा युग की एक चेतना होती है और एक मानस भी होता है। यह चेतना ही युगधर्म के रूप में स्वीकारी जाती है और अपने लेखन के अथवा साहित्यकृतियों के माध्यम से इसी चेतना को अथवा युगधर्म को लोकमानस में उतारने के प्रयास किये जाते है। चिपलुनकर, आगरकर, लोकमान्य तिलक, शि. म. परांजपे आदि के कालखण्ड में राष्ट्रवाद और समाजसुधारवाद की चेतना ही युगधर्म बनी हुई थी। उसी को पहचान कर हरि नारायण आपटे, कवि केशवसुत, नाटककार खाडिलकर और कोल्हटकर आदि साहित्यकारों ने उसे अपनी साहित्यकृतियो के माध्यम से जनमानस में उतारने की कोशिश की।

गांधी युग में एक ओर राष्ट्रीय स्वाधीनता अथवा आज़ादी की और दूसरी ओर

समाजक्रांति अथवा समाज परिवर्तन की चेतना ही युगधर्म के रूप में प्रभावी थी। इसी कालखंड में मामा वरेरकर ने 'फडके-खांडेकर' की परम्परा से हटकर गांधीयुग की सामाजिक-राजनीतिक चेतना अथवा युगधर्म को पहचानते हुए मराठी उपन्यास और कहानी को नवमतवाद के ढाँचे में ढालने का प्रयास किया। इसी लिए प्रगतिशील साहित्य की परम्परा में वे अग्रणी उपन्यासकार माने जाते हैं।

■

4

मामा के नाटक

मामा वरेरकर की प्रतिभा बहुमुखी थी। यद्यपि उन्होंने उपन्यास और कहानी जैसी विधाओं में अपनी लेखनी का जौहर दिखाया तथापि 'नाटक' ही उनके लौकिक जीवन और ऐहिक संसार की प्रेरणा भी थी और प्रवृत्ति भी।

अपने साहित्यसृजन के साठ वर्ष के काल में मामा ने 37 नाटक, 6 लघुनाटक, 14 एकांकी और 21 रेडियो नाटक लिखे। उनके द्वारा प्रस्तुत रेडियो नाटक का ही पर्यायी नाम नभोनाट्य अथवा श्रुतिका है। यह नाटक का ही एक रूप है। इसका रेडियो एवं आकाशवाणी के माध्यम द्वारा प्रसारण किया जाता है। रंगभूमि अथवा रंगमंच पर दृश्यरूप में नाटक प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन नभोनाट्य मात्र दृश्य रूप प्रस्तुत नहीं किया जाता। नाटक को दृक्श्राव्य काव्य कहा जाता है। नभोनाट्य मात्र श्राव्यनाट्य है जिसका लेखन एकांकी की शैली में होता है और वह मात्र आकाशवाणी के लिए ही लिखा जाता है। मराठी में इस नये नाट्य का प्रचलन मामा वरेरकर ने ही किया था। खेद की बात है कि उनके लिखे हुए रेडिओ नाट्य उस जमाने में आकाशवाणी द्वारा प्रसारित अवश्य हुए पुस्तक रूप में नहीं प्रकाशित हो पाये।

महाराष्ट्र में तमाशा एक प्रभावी लोककला के रूप में विख्यात है जो साहित्य की मौखिक परम्परा में परिगणत होती है। आधुनिक साहित्य में विकसित नाटक का मूल रूप यही लोककला है। 'तमाशा', 'दशावतार' जैसी लोककलाओं की विकास प्रक्रिया में 'नाटक' का उद्‌गम है। वैसे तमाशा खास मराठी लोककला है जो हिंदी में नौटंकी के आसपास आती हुई भी उससे भिन्न है। अत: यहाँ तमाशा का शब्द प्रयोग किया जाता है। 'तमाशा' लोकरंजन एवं लोकशिक्षण का प्रभावी माध्यम है। इसकी शृंगार बहुलता के कारण विशेषत: बहुजन समाज के लिए लोकशिक्षण एवं लोकरंजन के माध्यम के रूप में तमाशा लोकप्रिय सिद्ध हुआ। परंतु उच्च वर्ग में इसे अपेक्षाकृत प्रतिष्ठा नहीं मिली। इस वस्तुस्थिति की ओर निर्देश करना आवश्यक है क्यों कि अपने नाट्यलेखन का आरम्भ करने के पहले मामा वरेरकर ने कुछ 'तमाशा' लिखे थे वह भी ऐसे जमाने में जब कि राष्ट्रीय भावना एवं राष्ट्रभक्ति से भरपूर भाषण देना अथवा लेखनद्वारा राष्ट्रभक्ति का प्रसार या प्रचार करना राजद्रोह समझा जाता था। इसी के कारण 'तमाशा' का प्रसारमाध्यम के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। मामा के लिखे तमाशाओ का विश्वसनीय प्रमाण कहीं भी उपलब्ध नहीं

है। मामा ने इस लोककला का पुनरूत्थान किया और उसको प्रतिष्ठा प्रदान करते हुए शिष्टसंमत बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

प्रारम्भ में ही मैं लिख चुका हूँ कि मराठी नाटक और रंगमंच के उद्‌गम और विकास का मूलस्रोत 'तमाशा' जैसी लोककलाओं में है। मामा वरेरकर की यह विशेषता रही है कि जहाँ जहाँ नाट्य है वहाँ मामा की बहुमुखी प्रतिभा ने संचरण करते हुए अपने लेखन की कुशलता दिखाई है।

मराठी साहित्य के इतिहास में मामा वरेरकर का नाम नाटककार के रूप में ही स्वर्णाक्षिरो में लिखा गया है जिसकी चमकदमक चिरकाल तक रहेगी।

मामा के नाट्यलेखन का आरम्भ

सन 1908 में उनका 'कुंजबिहारी' पौराणिक नाटक मंच पर अभिनीत हुआ और वे जीवन के अंत तक अविराम गति से नाटक लिखते रहे। पहले नाटक से ही उनकी नाट्यप्रतिभा का असाधारण विकास भी होता रहा।

'संजीव़नी' उनका आखिरी नाटक माना जाता है जो उन्होंने 1960 में प्रका़शित किया। अपने लिखे स्वतंत्र नाटकों के अलावा मामा वरेरकर ने विल्सन बैरेट, जेम्स बैरी, हेन्रिक इब्सन और रवींद्रनाथ टैगोर की नाट्यकृतियों का मराठी में अनुवाद किया।

मामा वरेरकर का नाम लेते ही मराठी साहित्य और रंगमंच का पूरे युग का इतिहास उभरकर आँखों के सामने प्रत्यक्ष जीवित हो उठता है।

जब मामा वरेरकर ने अपने नाट्यलेखन का आरम्भ किया तब मराठी नाटक तथा रंगमंच के क्षेत्र में कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर और श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर, इन दो नाटककारों का प्रभाव था। खाडिलकर के नाट्यलेखन पर प्राय: संस्कृत नाटको के रचनातंत्र एवं शैली के प्रभाव के साथ ही शेक्सपियर के नाटकों की शैली का भी प्रभाव था। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य परंपराओं का समन्वय उनके लिखे हुए नाटकों की अपनी विशेषता थी। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने मराठी नाटक और रंगमंच को संस्कृत नाटक की रचनाशैली के प्रभाव से मुक्त किया। उनके नाट्यलेखन की प्रेरणा जितनी शेक्सपियर के रचनाविधान से संबंध में थी उतनी ही मोलिएर की रचनाविधान से भी। खाडिलकर लोकमान्य तिलक की विचारधारा से एवं राजनीति के विचारों से प्रभावित रहे जब कि कोल्हटकर गोपाळ गणेश आगरकर की समाजसुधारवादी विचारधारा से कहीं अधिक प्रभावित रहे। खाडिलकर की यह धारणा थी कि नाटक लोकजागृति का एक प्रभावी माध्यम है। इसी लिए उन्होंने पौराणिक और ऐतिहासिक कथावस्तुओं के रूपक के द्वारा लोगों को समकालीन राजनीतिक परिस्थिति से अवगत कराने की कोशिश की। उदाहरण के तौर पर उनके लिखे हुए 'कीचक वध' और 'भाऊबंदकी' नाटकों का निर्देश किया जा सकता है। कोल्हटकर की यह धारणा थी कि नाटक मुख्यत: मनोरंजन की कला है, अतएव लोकजागरण का कार्य अन्य साहित्यविधाओं द्वारा करना कहीं अधिक उचित है। इसीलिए उन्होंने अपने लिखे हुए नाटकों

में सामाजिक समस्याओं पर आधारित कथानक प्रस्तुत करते हुए भी मनोरंजन पर ही अधिक बल दिया और मनोरंजन के लिए अद्भुतरम्य एवं रोमान्टिसिज्म की प्रवृत्तियों का सहारा लिया। खाडिलकर के नाटकों में राजनीतिक वास्तविकता की तुलना में सामाजिक वास्तविकता की कमी महसूस होती है। कोल्हटकर के लिखे हुए नाटको में सामाजिक समस्याओं का ठोस आधार होने के बावजूद भी रोमाण्टिसिज्म की प्रवृत्तियों के हावी होने के कारण सामाजिक वास्तविकता की कमी खटकती रहती है।

इन दो नाटककारों की विशेषताओ के बारे में जो भेद निर्देशित किये हैं इसका कारण यही है कि मामा वरेरकर की नाट्यप्रतिभा को प्रारम्भकाल में इन्हीं दो भिन्न प्रकृतियों के अभिजात प्रतिभावान कलाकारों ने परिपुष्ट किया। लेकिन बाद में मामा बर्नार्ड शा और इब्सेन की विचारधाराओं तथा उनके लिखे हुए नाटकों से प्रभावित हुए। उन्होंने मराठी नाटकों को बर्नार्ड शा की सामाजिक वास्तविकता और इब्सेन की नाट्यविधान की कलात्मकता दी।

मामा द्वारा मराठी नाट्य परंपरा को नया मोड़

'कुंजबिहारी' और 'सती सावित्री' नाटक प्रचलित नाट्यपरम्परा के अनुसार लिखे जबकि 'यही है वर का बाप' (1916) नाटक से उनके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक यथार्थवादी नाट्यलेखन की परम्परा का सूत्रपात हुआ। यह परम्परा कोल्हटकर के सामाजिक नाटकों की परम्परा को नया मोड़ देनेवाली साबित हुई।

मामा स्वयं ही अपने को मराठी नाट्य साहित्य के 'शा' कहना पसंद करते थे, जो उनकी कीर्ति को धूमिल करने के लिए कटिबद्ध लोगों को खटकता था। वस्तुत: उनमें 'शा' की झलक अवश्य थी इस तथ्य को नकारा नही जा सकता। उनके लिखे हुए सामाजिक नाटकों की व्यापकता शा की मान्यता से मिलतीजुलती थी। शा के अनुसार साहित्यद्वारा समाज की नैतिक चेतना को प्रभावित किया जा सकता है और किया जाना भी चाहिए, इस बात का वे विशेष आग्रह रखते थे। परम्परागत मराठी नाट्यसाहित्य की शैली बहुव्यापक, आलंकारिक थी जिसका मामा ने जानबूझकर परित्याग किया और सतर्कता पूर्वक उन्होंने सरलतम मराठी भाषा का प्रयोग किया। 'शा' के समान वे भी 'इब्सेन' से अपनी कृतियों की समानता का दावा किया करते थे। यद्यपि उन्होंने इब्सेन की अनुपम काल्पनिक उडानों का गुण तो नहीं अपनाया तथापि इब्सेन की प्रचारधर्मिता से मामा पर्याप्त प्रभावित हुए।

इब्सेन के एक अंक एक दृश्य की रचना शैली मराठी नाट्य साहित्य के बहुत अनुकूल न होने पर भी मामा ने जी खोल कर उस प्रकार के प्रयोग किये। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि इस नवीन तम शैली का उन्होंने कहीं दुरूपयोग किया है।

मराठी नाटक का संक्रमण काल

बहुत बड़ी संख्या में मामा ने यथार्थवादी नाटकों की रचना की, जिन्हें उनके समकालीन

आलोचक 'समस्यामूलक नाटक' कहते थे। आगे चल कर 'समस्यामूलक नाटक' की ये प्रवृत्तियाँ मो. ग. रांगणेकर और आचार्य प्र. के. अत्रे के लिखे हुए नाटको में भी दिखाई देती है। कुछ आलोचक तो ऐसा मानते हैं कि मो. ग. रांगणेकर ने सामाजिक नाटक को पारिवारिक नाटक का रूप दिया और आचार्य अत्रे ने 'प्रहसन' को ही स्वतंत्र रूप में विकसित किया और उसके माध्यम से युगीन सामाजिक समस्याओं को पेश किया। ये दोनों प्रवृत्तियाँ, पारिवारिकता और हास्यव्यंग्य की प्रधानता, मामा वरेरकर के लिखे हुए सामाजिक नाटकों में परिलक्षित होती है।

सन 1915 से 1920 तक की कालावधि में मराठी नाट्यकला एवं मराठी रंगमंच अनेक दृष्टि से उत्कर्ष की चरमसीमा तक पहुँचा था। कृ. प्र. खाडिलकर और श्री. कृ. कोल्हटकर के अलावा रा. ग. गडकरी और न. चिं. केलकर अपनी तेजस्वी प्रतिभा के कारण चमक रहे थे। उनकी उत्कृष्ट नाट्यकृतियों की साहित्य जगत एवं रंगभूमि के क्षेत्र में सराहना हो ही रही थी। बालगंधर्व और ललित कला जैसी नाटक कम्पनियों ने मराठी संगीत नाटकों की संपन्न परम्परा को चरम सीमा तक पहुँचाया था। बलवंत संगीत मंडली, महाराष्ट्र नाटक मंडली जैसी नयी नाटक कम्पनियाँ आगे चलकर मराठी रंगमंच को बढ़ावा दे रहीं थीं। इसी वैभवशाली कालखण्ड में मामा वरेरकर का नाट्यजगत में पदार्पण हुआ।

नाटककार के रूप में ख्याति प्राप्त करने के बाद मामा वरेरकर का संपर्क एक महत्त्वाकांक्षी गायक अभिनेता बापूराव पेण्ढारकर से बना। दोनों ने मिल जुलकर प्रचलित व्यावसायिक मराठी रंगमंच में नये नये प्रयोगों को प्रस्तुत करते हुए रंगमंच कला का मानों कायाकल्प ही कर दिया।

सन 1920 के आसपास मराठी रंगमंच की स्थिति परिवर्तित होने लगी थी। तिलक युग समाप्त हुआ था, गांधी युग का आरम्भ हो चुका था। लोकमान्य तिलक के देहावसान के पहले ही महात्मा गांधी ने राजनीति के मंच पर कदम रखा था। लोकमान्य तिलक ने भी यह सूचित किया था कि राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व करने के लिए शायद म. गांधी ही अधिक सक्षम हैं। कुछ भी हो यह तो हकीकत है कि गांधीयुग में सामाजिक, राजनीतिक परिस्थिति के अंतर्गत स्थिति गति में परिवर्तन होता रहा जिसके कारण सांस्कृतिक उपक्रमों की स्थितिगति भी बदलती रही। पहले विश्वयुद्ध (सन 1914-1918) की समाप्ति के फलस्वरूप मध्यम वर्ग की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति में भी परिवर्तन हो रहा था। इसी परिवर्तन के कारण मराठी साहित्य एवं नाट्य के क्षेत्रों में एक ओर वैभवशाली परंपराओं का ऱ्हास होता रहा। दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य में भी विश्वयुद्ध के पश्चात नयी प्रवृत्तियाँ एवं नयी विचारधाराओं के कारण जो परिवर्तन हो चुका था उसके प्रभाव से मराठी साहित्य में भी नयी प्रेरणाओं और नयी प्रवृत्तियों का प्रचलन हो रहा था। एक दृष्टि से यह ऐसा संक्रमण काल था जिसमें पुरानी परंपराएँ क्षीण हो जा रही थीं और नयी परम्पराओं का प्रचलन अनिवार्य रूप से हो रहा था।

मराठी नाटक के संक्रमणकाल में मामा का योगदान

भले ही मामा वरेरकर ने अपने नाट्यलेखन का प्रारम्भ 1908 में किया हो और 1920 के पहले ही उनकी आठ नाट्यकृतियाँ प्रकाशित हुई हो यथार्थ दृष्टि से वे इसी संक्रमण काल के प्रभावशाली नाटककार हैं जिन्होंने नाट्यकला के अवनति के काल में जमाने के साथ चलते हुए नयी प्रवृत्तियों एवं नयी परम्पराओं का स्वागत किया और स्वीकार भी। इन प्रवृत्ति परंपराओं को प्रत्यक्षरूप देते हुए उन्होने मराठी नाटक और रंगमंच का स्वरूप ही बदल दिया। अपनी प्रतिभा के बलबूते पर उन्होने नाट्यलेखन एवं रंगमंच में नये नये प्रयोग करने के प्रयास किये।

मैंने इसके पहले संगीत नाटक की परम्परा का निर्देश किया है। संगीत नाटक की लोकप्रियता के कारण नाट्यविधान में कथावस्तु की अपेक्षा संगीत को कहीं अधिक प्रधानता दी गयी थी। कथावस्तु की स्वाभाविक विकास की गति के अनुरूप नाटक की संहिता मे आवश्यक गीतों की रचना तो की ही जाती थी लेकिन आगे चल कर अभिनेता की गानकला का लोगों की रूचि के लिए उपयोग करने के उद्देश्य से गायक-अभिनेता के अनुरूप गीतों की रचना की जाने लगी थी। भले ही उन गीतों का कथावस्तु से तालमेल हो या न हो। संगीत को इस प्रकार महत्त्व मिलने के कारण नाटक को एक तरह से संगीत की महफिल का ही रूप प्राप्त हो चुका था। लोग नाटक देखने जाते थे लेकिन उन्हें लाभ होता था संगीत की महफिल को सुनने का। गायक-अभिनेता को दाद मिलती थी 'वन्स मोअर' की उसके अभिनय या संवाद के लिए नहीं बल्कि उसकी गानकला के लिए।

कथावस्तु से तालमेल न बैठने पर भी गीत और संगीत की भरमार वाली प्रथा मराठी संगीत नाटकों में प्रचलित थी। मामा वरेरकर और बापूराव पेण्ढारकर ने इस प्रथा का परित्याग किया। साथ ही रंगमंच को सर्वथा नया यथार्थवादी रूप देते हुए लोकप्रिय नाटकों का सृजन भी किया।

मामा ने अपनी कला को सोद्देश्य प्रस्तुत करते हुए मराठी रंगभूमि को अधिक यथार्थवादी और जीवन्त बनाने की कोशिश निष्ठा के साथ की है। बोलचाल की सरल भाषा, संक्षिप्त छटपटे संवाद, स्वगत भाषणों का अभाव, एक उद्देशीय नाट्यरचना, दो से ढाई-तीन घंटों में नाटक की समाप्ति आदि सारे नाट्यविधान के संदर्भ में नये तकनीकी सुधार मामा वरेरकर के लिखे हुए नाटकों में मिलते हैं। संगीत नाटकों की प्रचलित परंपरा में तो नाटक रंगमंच पर पॉच-छह घण्टों से भी ज्यादा समय तक चलता था, 'वन्स मोअर' की दाद के कारण। नाटक की रचना भी ऐसी की जाती थी कि जिसमें पाँच अंक होते थे और हर अंक में पाँच से सात-साठ तक दृश्य दिखाये जाते थे। दृश्य को नाट्यरचना की तकनीकी परिभाषा में 'प्रवेश' कहा जाता था। इसी तरह पारम्परिक मराठी नाटक का रचनाविधान (Structural form) 'बहुअंकी एवं बहुप्रवेशों' से युक्त था। स्वाभाविक रूप में रंगमंच पर ऐसे नाटक प्रस्तुत करने में समय तो ज्यादा ही लग जाता था।

मामा वरेरकर ने नाट्यरचना के अंतर्गत अंक, प्रवेश और गीतो की संख्या में कटौति की। 'एक अंक एक प्रवेश' एवं सम्पूर्ण नाटक की समाप्ति तीन अंकों में- नाट्यरचना का ऐसा नया विधान उन्होने प्रचलित किया। इसी के कारण नाट्यकृति के रंगमंचीय प्रस्तुति के लिए ढाई-तीन घण्टों का समय पर्याप्त होने लगा। 1920 के आसपास मराठी रंगभूमि में एक परिवर्तन तो दृष्टिगत हुआ था। शेक्सपियर की नाट्यरचना का प्रभाव कम होता चला और इब्सेन की नाट्यरचना का प्रसारण तेजी से होने लगा। इस परिवर्तन का अधिकांश श्रेय मामा वरेरकर को ही दिया जाता है। रंगमंचीय नेपथ्य मे भी सुधार होता रहा। पहले सारा रंगमंचीय नेपथ्य नीचे ऊपर जानेवाले प्रभावशाली रंगीन दृश्यों से युक्त परदों पर ही निर्भर था। इब्सेन के रंगमंच के परिणामस्वरूप अब परदों की जगह पर निश्चल दीवारों के कमरे और बैठक खाने दिखने लगे थे। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस परिवर्तन का प्रारंभ भी मामा के नाटकों से ही हुआ। इस लिए कह सकते हैं कि मराठी नाटक के क्षेत्र में मामा वरेरकर ने मंचीय रचनानिधान की दृष्टि से युगप्रवर्तन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

मामा के सामाजिक नाटकों में विद्रोही नायिका

इसी कालखण्ड में महर्षि अण्णासाहब कर्वे ने समाजव्यवस्था में शोषित पीड़ित नारी के सर्वांगीण सुधार का कार्य बड़ी लगन से प्रारंभ किया था। उनके कार्य से प्रभावित होने के परिणाम स्वरूप मामा नारी जीवन की ओर सुधारवादी दृष्टि से देखने लगे। रंगमंचीय चरित्र चित्रण में मामा के सामाजिक नाटकों में नायिका विद्रोही, सर्वथा स्वतंत्र, मुक्त रूप में दिखाई देती है। परंपरागत समाजव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली, पुरुषप्रधान सत्ता के सारे बंधनों को ठुकराती हुई विरोध करनेवाली, संघर्ष करनेवाली मामा साहब की नायिका ने नारी मुक्ति आंदोलन की नींव रखी। 'भूमिकन्या सीता' नाटक उन्होंने उसके सत्तर वें वर्ष में लिखा। विषय की दृष्टि से कथा पौराणिक भले ही हो, पर उसमें सीता का त्याग करके राम ने जो अन्याय किया है उसका चित्र मामा ने सुधारवादी दृष्टि के जोश में ही खींचा है।

राम गणेश गडकरी ने अपने 'एकच प्याला' सामाजिक नाटक में नायिका सिंधु का चरित्रचित्रण किया है। भारतीय समाजव्यवस्था में विविध धार्मिक एवं सामाजिक रूढिपरंपराओं के प्रतिबंधों के कारण पति को परमेश्वर मानने वाली नारी किस तरह दासता में जखडी जाती है उसका 'सिंधु' एक 'माडेल' ही है। उसी नाटक में 'गीता' एक पात्र है जो अपने ही पति के किये हुए अन्यायों, अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाती है। लेकिन उसकी भी एक सीमा होने के कारण वह समाजव्यवस्था के बन्धनों को तोड़कर सर्वथा स्वतंत्र नहीं हो पायी। जो भी हो उसने पुरुषप्रधान सत्ता से विरोध करने का पहला कदम तो अवश्य आगे रखा था। मामा वरेरकर शायद सिंधु की तुलना मे गीता की व्यक्तिरेखा से अधिक प्रभावित हो गये थे। पुरुषप्रधान सत्ता के खिलाफ गीता के द्वारा उठाये गये पहले कदम को तेजी से आगे बढ़ाने की प्रेरणा मामा को शायद इब्सेन के नाटकों की नायिका

से मिली होगी।

हरि नारायण आपटे ने सामाजिक उपन्यासों के द्वारा जो कार्य किया वही मामा वरेरकर ने आगे चलकर सामाजिक नाटको द्वारा संपन्न किया। हरिभाऊ उदारवादी सुधारक होने के कारण नारी जीवन की ओर हार्दिक सहानुभूति से देखते थे और सहज सहानुभूति की दृष्टि से ही उसका चित्र नाटकों ओर उपन्यासों मे खींचते थे। समय के अनुसार मामा वरेरकर की सहानुभूति का दायरा उदारवादी सुधारकों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा हो गया। सन 1916 के बाद पच्चीस वर्षो तक मामा ने मनोरंजक किन्तु उद्‌बोधक नाटक लिखकर समाज को समय समय पर बेचैन कर देनेवाले प्रश्नों पर प्रकाश डालने की कोशिश की।

सुखान्त नाटक की ओर मामा का आकर्षण

मामा वरेरकर के लिखे हुए नाटक विषयनिष्ठ (Thematic) तो थे ही। लेकिन उनका रचनाविधान कौशल ऐसा था कि विषयनिष्ठ नाटकों में उन्होंने मात्र प्रचार को महत्त्व नहीं दिया, नाटकों को प्रचार का साधन मात्र नहीं होने दिया।

'यही है वर का बाप' (हाच मुलाचा बाप), 'सत्ता के गुलाम' (सत्तेचे गुलाम), 'संन्यासाकी घरगृहस्थी' (संन्याशाचा संसार), 'स्वर्ण कलश' (सोन्याचा कलश) आदि उनके उस काल के सामाजिक नाटक थे जिनकी बड़ी धूम रही थी। इन्हीं नाटकों ने किर्लोस्कर, देवल, खाडिलकर और गडकरी जैसे मराठी रंगमंच के महान शिल्पकारों की श्रेणी मे मामा को ले जाकर बिठा दिया। यह बात सच है कि इन नाटककारो के कालखण्ड के अंतिम प्रतिनिधि के रूप में मामा वरेरकर का उल्लेख किया जाता है। तथापि मामा की खासियत यह रही कि उन्होंने प्रचलित परम्परा को नया मोड़ भी दिया और नया आयाम भी।

उस काल तक की रसिकों एवं समीक्षकों की सामान्य धारणा यह थी कि समाज की दुखती रग पर हाथ रखनेवाली ललित साहित्यकृति गंभीर स्वरूप की ही होनी चाहिए। अर्थात् नाटक के द्वारा सामाजिक दुख को वाणी प्रदान करना हो तो नाटक 'त्रासदी' (ट्राजिडी) के ही रूप में प्रस्तुत हो सकता है। गंभीर स्वरूप के सामाजिक नाटकों में हास्य-व्यंग्य के लिए चाहे तो स्वतंत्र दृश्य रखे जायें अथवा गौण पात्र उट-पटाँग ढंग से मज़ाक करें। किन्तु नायक और नायिका की गंभीर व्यक्तिरेखा को जरा भी ठेंस नहीं पहुँचनी चाहिए। मामा वरेरकर ने यह संकेत तोड़ कर इस बात को सिद्ध कर दिया कि गंभीर सामाजिक समस्याओं पर आधारित नाटक सुखान्त (कामिडी) हो सकता है और लोकप्रिय भी। अपने कतिपय सामाजिक नाटकों के द्वारा मामा ने सदैव इसी तथ्य को प्रमाणित कर ही दिया। नाटक का विषय भले ही दहेज जैसा करुणाजनक क्यों न हो, मामा ने व्यंग्य की शैली में इसे चित्रित किया।

परिणामस्वरूप मामा की इस भूमिका पर आलोचकों ने आपत्ति उठायी। लेकिन मामा तो अपनी ही मस्ती में ऐसी आपत्तियों की ओर उपेक्षा एवं लापरवाही से देखते हुए अपनी भूमिका पर निश्चल रहे। मराठी रंगमंच को हर तरह से सुधार कर तथा सामाजिक जीवन

में प्रभावशाली बना कर, उसका गौरव बढ़ाने और सर्वांगीण विकास की दृष्टि से उसमें परिवर्तन लाने का कठिन कार्य मामा वरेरकर ने किया। इसीलिए मराठी नाटको के इतिहास में वरेरकर जी का उल्लेख 'आधुनिक मराठी रंगमंच के सुधारक एवं युगप्रवर्तक' के रूप मे ही करना होगा।

मामा के तीखेपन ने ही उनके द्वारा प्रस्तुत कथोपकथन को ओजपूर्ण बना दिया। अपनी विशिष्ट शैली के सहारे उन्होंने अपने सशक्त स्वर में रंगमंच को चेतना देने वाले अमर नारी पात्र प्रस्तुत कर भारत के तत्कालीन संत्रस्त नारी समाज को एक स्पष्ट समानाधिकार सम्पन्न व्यक्तित्व प्रदान कर दिया। उन्होंने कुछ पौरूष प्रकृति से मिलते-जुलते प्रमुख स्त्री पात्रों की निर्मिति की। उनके इस विशेष झुकाव के पीछे निश्चित रूप से बर्नार्ड शा के विचार प्रेरक रहे होगे।

मामा वरेरकर ही एक ऐसे नाटककार थे जिन्होंने मराठी नाट्य संसार में अपने नाट्यविषय, नाट्यरचना, शिल्प एवं तकनीकी दृष्टि से युगानुरूपता और आधुनिकता का सुंदर समन्वय किया जिसके कारण मराठी नाटक की विद्यमान परम्परा को नया आयाम प्राप्त हुआ।

मामा के नाटकों में समकालीनता

दहेज की जटिल और कुटिल समस्या के कारण बांगला देश में स्नेहलता नामक एक युवती ने सन 1914 में खुदकुशी की। इस घटना से प्रेरित होकर ही मामा वरेरकर ने सन 1916 मे 'यही वर का बाप' नाटक लिखते हुए महाराष्ट्रीय समाज का ध्यान इस गंभीर समस्या की ओर आकृष्ट किया। स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ संन्यास लेकर जनकल्याण एवं देश कल्याण के कार्य में रत थे। उनसे प्रेरित होकर गजानन वैद्य नाम के एक व्यक्ति ने निजी गृहस्थी को त्याग कर हिंदू मिशनरी सोसायटी की प्रतिष्ठापना की थी। इसी घटना से प्रेरित होते हुए मामा वरेरकर ने सन 1919 में 'संन्यासी की गृहस्थी' नाटक लिखा जो पतितोद्धार की समस्या पर आधारित है। सन 1920 में म. गांधी ने स्वातंत्र्य आंदोलन की घोषणा की और उससे प्रभावित एवं सचेत होकर कतिपय छात्रों ने अध्ययन और वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी। महात्मा गांधी ने आंदोलन के दौरान बहिष्कार का नारा भी दिया था। मामा के लिखे हुए 'सत्ता का गुलाम' (सन 1922) नाटक की प्रेरणा इसी समकालीन घटना में है। हास्य और व्यंग्य के द्वारा मामा ने समाज में प्रचलित दांभिक एवं कुटिल प्रवृत्तियों पर तीखे प्रहार करते हुए जनमानस को झक झोर दिया। सन 1923 में मामा ने छुआछूत की समस्या को लेकर 'कैदखाने के देहली पर' (तुरुंगाच्या दारात) नाटक लिखा। हिंदु समाज के रूढि और परम्पराओं के कैदखाने में बंद रहने के कारण समाज का कितना नुकसान हुआ है, इसका चित्रण इस नाटक में किया गया है। राजनीतिक आंदोलन के साथ ही नारी जगत में भी नवजागरण होने के कारण नारी को अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों, अत्याचारो का तीव्रता से एहसास होने लगा था। यह एक तरह का

मानसिक परिवर्तन था। साहित्यकार के नाते मामा जितने संवेदनशील थे उतने ही सजग चिंतक एवं विचारक भी थे। इसी कारण उन्होंने 'पापी पुण्य' (1931), 'जागती ज्योत' (1933), 'सदा बंदिवान' (1933), 'आमने सामने' (1937) आदि नाटकों द्वारा नारी जीवन से संबंधित कई समस्याओं के प्रति समाज की बंद ऑखें खोलते हुए समाज को जगाने के प्रयास किये। सन 1937 मे राष्ट्रीय कांग्रेस जो स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व कर रही थी, सम्पूर्ण नशाबंदी का आन्दोलन छेड़ा जिस पर आधारित 'सूखी करामत' (कोरडी करामत) नाटक मामा ने लिखा (1939)। दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हुआ और पूरब की ओर से हिंदुस्तान पर जपान के आक्रमण के बादल मंडरा ने लगे तो मामा वरेरकर ने 'सिंगापूर से' (सिंगापुरातून) नाटक 1944 मे लिखा। इस नाटक में काल्पनिक कथानक के आधार पर यह बताया कि सिंगापूर में रहनेवाले भारतीय लोग ही इस आक्रमण को निष्फल बनाने के लिए आत्मबलिदान कर सकते है। उन्होने एक विचित्रसा नाटक लिखा जिसका शीर्षक था 'लौटने पर' (परतल्यावर)। सन 1944 मे लिखे हुए इस नाटक में उन्होंने यह बताया कि युद्धसमाप्ति के बाद दो सिपाही अपने गॉव लौट कर गाँव में हर प्रकार का सुधार लाने के प्रयास करते है। उन्होने अपनी खेतीबाडी की बड़ी लगन के साथ देखभाल की और यह साबित किया कि मराठा सिपाही जंग के मैदान पर जितनी लगन के साथ बहादुरी दिखाता हे उतनी ही लगन से देहात मे खेतीहर बनकर रह सकता है। इस नाटक के द्वारा मामा ने लघुनाटक का प्रयोग किया। कथानक की रचना दो अंकों में ही की और हर अंक मे तीन ही दृश्य चित्रित किये। आगे चल कर 1960 के बाद मराठी नाट्यक्षेत्र में दो अंकों वाले नाटक की परम्परा विकसित हुई। ध्यान रहे कि तीन अंकों, दो अंकोंवाले और एकांकी जैसे नये रचनाविधान का आरम्भ मामा वरेरकर ने ही किया।

'सारस्वत' (1942) नाटक में मामा ने कला का बाज़ार लगानेवाले लेखक का जिस तरह मज़ाक उड़ाया उसी तरह आदर्शवादी लेखक के भाग्य को जकड़ने वाला दरिद्रता का मर्मभेदी चित्रण भी किया है। खेद है कि मामा वरेरकर के आदर्शवादी विचारों की कलावादी आलोचकों ने खिल्ली उडायी। मामा ने अपनी खिलाडी वृत्ति और नटखट स्वभाव से उस मज़ाक को भी सहज स्वीकार किया। अपनी भूमिका पर वे निष्ठापूर्वक निश्चल रहे। यही तो उनकी विशेषता थी। 'अपूर्व बंगाल' नाटक में सन 1947 के भारत विभाजन के बाद के दु:ख को उन्होंने शब्दबद्ध किया है। युगानुरूपता और आधुनिकता का यह एक सशक्त प्रमाण है। समाज में जब जब विचारों और भावनाओं की लहर पैदा हुई हो मामा उस पर आरूढ होकर सामाजिक जीवन में वास्तविकता की स्थिति गति का चित्रण करते रहे। उनके नाटकीय संसार में विविधता है और विपुलता भी। लगभग सभी आलोचकों ने उनकी इस विशेषता की खुलकर सराहना की है। यह बात मामा के गौरव को निश्चित रूप से बढा देनेवाली है।

रचनाविधान की दृष्टि से नाटक में परिवर्तन

रचनातंत्र एवं रचना विधान की दृष्टि से मामा जो कुछ वास्तववादी बदलाव रंगमंचीय परिणाम की दृष्टि से नाट्य लेखन में लाए हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन तो पहले हो ही चुका है। पूर्ववर्ती मराठी नाटक और रंगमंच पर संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव था। नाटक का आरम्भ नांदी एवं सूत्रधार और नटी के दृश्य से हुआ करता था। नांदी का रूढार्थ ही है प्रारंभ जो ईशस्तुति से हुआ करता था। सूत्रधार और नटी के दृश्य में संवाद के माध्यम से नाटककार नाटक की कथावस्तु, नाटक का उद्देश्य और नाट्यगत कथानक के मुख्य पात्र का रंगमंच पर आगमन आदि की जानकारी दी जाती थी। इस कारण प्रेक्षको को कथानक की पूर्वसूचना मिल जाती थी और वे नाट्यार्थ ग्रहण करने की दृष्टिसे मानसिक रूप में तैयार हो जाते थे। नाटक के अंत में कथानक की समाप्ति के साथ ही सारे कलाकार रंगमंच पर इकट्ठे होकर 'भरतवाक्य' घोषित करते थे। नांदी के साथ रंगमंच का परदा खुल जाता अथवा ऊपर उठता और 'भरतवाक्य' के साथ गिर जाता। इस संकेत को नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करते समय दृढ़तापूर्वक साथ पाला जाता था। इन संकेतों की और स्वगत भाषण, एकान्त भाषण जैसी खूबियो की प्रशंसा एवं उनकी आवश्यकता का समर्थन भी किया जाता था। लेकिन वास्तवदर्शी नाटकों के रंगमंचीय प्रयोग की दृष्टि से ये सारी चीज़ें अनावश्यक थीं। मामा वरेरकर ने मराठी नाटक एवं मराठी रंगमंच वास्तवदर्शी बनाने की दृष्टि से ऐसे अनावश्यक तफ़सील हटा दिए। उन्होंने एक कदम और आगे बढाया। अन्य सामाजिक रूढियों के कारण नारी लिए रंगमंच पर अभिनेत्री के रूप प्रेक्षकों के सामने आना अनुचित माना जाता था और अशुभ भी। अतएव अभिनेता और अभिनेत्री के रूप में पुरुष ही काम करते थे। अभिनेत्री के रूप में रंगमंचीय व्यवहार करते हुए उनमें कुछ कमी दर्शकों को महसूस नहीं होती थी। इस संदर्भ में बालगंधर्व का नाम मशहूर है। मराठी नाटक के स्वर्णयुग में उनका भी मामा युगकर्ता के रूप में ही विख्यात है। लेकिन जमाना तेजी से बदल रहा था। समाज में प्रस्थापित रूढियों के बंधन शिथिल होने लगे थे, नयी धारणाएँ विकसित हो रही थीं। अतएव रंगमंच पर अभिनेत्री की भूमिका अथवा कथावस्तुगत स्त्री पात्र की भूमिका स्त्रीद्वारा ही अभिनीत होना उचित है, ऐसी धारणा बनती गयी। मामा वरेरकर मराठी में पहले नाटककार हैं जिन्होंने अपने लिखे हुए 'संसार' (1933) नाटक में इसी दिशा में आगे कदम उठाकर यह साबित कर दिया कि नाट्यकथा के रंगमंचीय दृक्श्राव्य प्रयोग में स्त्री पात्र की भूमिका, स्त्री के द्वारा प्रस्तुत करना कही अधिक कलापूर्ण एवं प्रभावकारी होगा और स्वाभाविक भी।

सन 1933 में 'नाट्यमन्वन्तर' नाम की एक संस्था गठित हुई। नाट्यव्यवहार में युगानुरूप रंगमंचीय परिवर्तन लाने की दृष्टि से केशवराव दाते, केशवराव भोळे, श्री. वि. वर्तक जैसे अनुभवी रंगकर्मी इकट्ठे हुए और यथार्थवादी सामाजिक नाटकों का प्रयोग करते हुए उन्होंने मराठी रंगमंच का नया युग शुरू किया। मामा वरेरकर के रंगमंचीय कर्तृत्व

को उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक याद किया और अभिवादन भी। क्यो कि मराठी नाटकों और रंगमंच के विकास की दृष्टि से जो बदलाव ये रंगकर्मी 'नाट्यमन्वन्तर' द्वारा लाना चाहते थे उनका सूत्रपात तो मामा पहले ही कर चुके थे। यह सच है कि आलोचको ने प्रारंभ मे मामा के नाट्यलेखन पर आपत्ति उठायी फिर भी बाद में उनके नाट्यकर्तृत्व की सराहना उन्हें करनी ही पड़ी।

मामा मराठी रंगमंच के युगप्रवर्तक सुधारक थे। नाट्यविषय और नाट्यतंत्र एवं नाट्यरचनाविधान के बारे में मामा ने जितनी मात्रा में युगानुरूपता और यथार्थता का समन्वय किया उतनी ही मात्रा में अगर नाट्यकथावस्तु के बारे में भी कर दिखाते तो शायद नाट्यकृतियाँ कलात्मकता की दृष्टि से और भी सरस उतरतीं। लेकिन यथार्थ के साथ उन्होंने नाट्य की कथावस्तु में अद्‌भुतरम्यता एवं काल्पनिकता को भी मिला दिया जिसके परिणामस्वरूप उनकी नाट्यकृतियों में यथार्थता और काल्पनिकता का कहीं कहीं कलाहीन समन्वय दृष्टिगत होता है। यह मुद्दा आपत्तिजनक था।

मामा के नाटकों में कलात्मकता का अभाव

कलाहीन समन्वय के आपत्तिजनक मुद्दे को लेकर कटाक्ष करते हुए वि. स. खांडेकर जैसे दिग्गज आलोचक ने कुछ उदाहरणों की ओर निर्देश भी किया। 'यही वर का बाप' नाटक दहेज की समस्या पर आधारित है। अपनी संभाव्य वधु का पिता दहेज नहीं दे सकता यह देखते ही नायक अपने ही पिता की तिजोरी से चार हजार रुपये की चोरी करता है और अपने भावी ससुर की मदद करता है। क्या समस्या का यही एकमात्र समाधान है? दहेज लेना मानवीय सभ्यता की दृष्टि से एक गहन अपराध है, कलंक है। लेकिन दहेज देने के लिए चोरी करना भी तो असभ्यता है। इसी बात को लेकर आलोचक टीका टिप्पणी करते हैं कि दहेज की समस्या का समाधान करने के लिए चोरी का रास्ता दिखाकर मामा ने गंभीर सामाजिक समस्या को कैसा हास्यास्पद बना दिया है?

'सत्ता का गुलाम' नाटक में बाबासाहब अपनी विधवा बहु की खोज करने के प्रयास किये बगैर ही अपनी सारी ज़ायदाद अपने मित्र के बेटे को बहाल कर देते हैं। सदानंद की विधवा आँखों के सामने चलती फिरती देखते हुए भी केरोपंत जैसा चतुर और चापल्लुस वकील उसे नहीं पहचानता और इतनी कठिन स्थिति में से गुजरते हुए भी सदानंद की विधवा अपना रिश्ता बना कर अपनी पहचान नहीं देती। ऐसी घटनाएँ बिल्कुल यथार्थवादी या तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती। नाट्यकृति में जो घटनाएँ चित्रित होती हैं वे संभाव्य होनी चाहिए और अनिवार्य भी। यह धारणा तो अरस्तू के जमाने से ही प्रचलित है। लेकिन मामा वरेरकर ने इसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। आलोचकों ने मामा वरेरकर के नाटकों की आधुनिकता और यथार्थता की सराहना करते हुए भी उनके नाटकों की कथावस्तु की सदोषता की ओर निर्देश किया है।

सच बात तो यह है कि मामा स्वयं अपनी सीमाएँ और दोष जानते थे। लेकिन साहित्य

के स्वरूप और सृजन की ओर एक निश्चित दृष्टि से देखते हुए विशिष्ट भूमिका अपनाने वाले मामा ने इन दोषो और सीमाओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। कोई भी गंभीर सामाजिक समस्या पर आधारित नाटक त्रासदी के रूप मे ही प्रस्तुत किया जाता है, इस संकेत को मामा वरेरकर तोड़ना चाहते थे। क्यों कि उनकी अपनी यह धारणा थी कि गंभीर समस्या को हास्यास्पद बनाने के परिणाम स्वरूप समस्या की तीव्रता शायद कम हो सकती है और उस समस्या का समाधान निकालने के लिए समाज की मानसिकता तैयार हो सकती है। करुण रस और हास्य रस इन दोनों के स्वरूप और प्रभाव से मामा वरेरकर भलीभॉति अवगत थे। इसीलिए उन्होंने गंभीर समस्यामूलक नाटक में करुण रस के स्थान पर हास्य रस का परिपोष किया। फलत: उनका लिखा हुआ 'यही है वर का बाप' जैसा पारिवारिक नाटक सुखान्त होने के कारण दहेज की समस्या की अपेक्षाकृत गंभीरता तीव्रता में प्रतीत नही होती। फिर भी रंगमंचीय साहित्य कृति के रूप मे यह नाटक सफलही सिद्ध हुआ। साहित्यकार के नाते मामा वरेरकर की यह मान्यता थी कि बीसवीं सदी में दहेज जैसी लज्जास्पद कुरीतियों का समाज में प्रचलित रहना विवेकशून्यता की चरम सीमा है। इस लज्जास्पद कुरीति को मामा वरेरकर ने सोचसमझकर हास्यास्पद बना दिया। मराठी रंगमंच पर लगभग आधी शताब्दी से इस कुरीति के विरुद्ध समाज का जागरण करते रहने में ही इस नाटक की सफलता है।

मामा वरेरकर के लिखे हुए नाटको और नाटकों की कथावस्तु को जन्म देनेवाली घटनाओं को देखने से यह प्रमाण मिलता है कि मामा अपने युग के साथ बराबर चलने का प्रयास करते थे। वे जितने अपने युगमानस से परिचित थे उतने ही आधुनिक विचारो से प्रभावित भी थे। सन 1941 में लिखे हुए 'उडते परिंदे' (उडते पक्षी) नाटक मे बहुत स्पष्टता के साथ उन्होंने विवाह समस्या के संबंध में अपने विचार नायिका के मुख से प्रकट किये है, "दो-चार ब्राह्मणों ने चार छ: मन्त्र पढ़ा कर विवाह की वेदी पर बिठाकर होम के धुएँ से आँखें धुंधला दीं, तो कौनसा विशेष अन्तर पड़ जाता है?"

शरत बाबू के समान मामा की मान्यता थी कि वास्तविक दो हृदयों का मिलन ही विवाह है। जिन स्थितियों का इस नाटक में वर्णन हुआ है वे शायद आज विद्यमान हों या न हों, लेकिन जिस युग में मामा ने यह नाटक लिखा उस युग में नारी के मुँह से विवाह के संबंध में इतनी स्पष्टता से कहलवाना ही क्या कम क्रांतिकारी था? जिस युग में मामा वरेरकर लिखते थे वह युग ही क्रांतिकारी एवं परिवर्तनवादी विचारों का युग था। वास्तव में जिस युग में मामा लिखते थे, जिस युग के वे प्रतिनिधि कलाकार थे, उस युग में कला अथवा साहित्यसृजन नहीं बल्कि सामाजिक क्रांति ही अहम बात थी। इसी समय रूस में क्रांति हो चुकी थी। हर युग की अपनी विशेषता होती है। साहित्यकार युग के पीछे नहीं चलता, युग के बराबर, साथ-साथ ही चलता है और युग की मान्यताओं को अपनी कृतियों में स्वर देता है। नाटककार के नाते मामा युग के पीछे नहीं रहना चाहते थे। हो न हो

उनमें बर्नार्ड शा की प्रतिभा की प्रखरता और अन्तर्भेदी दृष्टि नही होगी। परन्तु उन्होने क्रान्ति के स्वर को कभी भी क्षीण नहीं होने दिया।

मामा के नाटकों पर परिवर्तनवादी भूमिका का प्रभाव

मामा के लिखे हुए नाटकों में 'भूमिकन्या सीता' (1955) एक प्रमुख नाटक है। नाटक की कथावस्तु पौराणिक है। फिर भी इस नाटक की आत्मा तत्कालीन समस्या से संबद्ध होने के कारण यह नाटक सामाजिक है। क्यों कि इस नाटक में पौराणिक कथा को मामा ने आज के युग के अनुरूप नया अर्थ दिया है। सीता और ऊर्मिला अपने अधिकारों के प्रति बीसवीं सदी के नारी के समान सजग है। 'द्वारका का राजा' (1952) इस नाटक में यादवो के मथुरा जाने की कहानी को नया मोड़ दे कर मामा ने सर्वथा नया अर्थ दिया है। आज के सत्तालोभी राजनेता के सामने उन्होंने कृष्ण के रूप में एक आदर्श रखा है। पौराणिक कथाओ को भी मामा ने सामाजिक अर्थ देने का प्रयास किया, यह उनकी यथार्थवादी भूमिका का प्रमाण है। मामा ने अपने आरम्भिक काल में जब नाटक लिखना शुरू किया था तब उन्होंने अपने नाटकों के लिए सामाजिक समस्याओं का ही आधार लिया था। उनके नाटकों की ही नहीं बल्कि उनके साहित्य की प्रमुख विशेषता यही है कि पुरानी रूढियों पर वे नित्य, तीखे कड़े प्रहार करते रहे। यह तो उनकी परिवर्तनवादी भूमिका का ही प्रमाण है। परन्तु मामा की क्रांतिकारी विचारधारा समाज का परिवर्तन की दिशा में मार्गदर्शन करते हुए भी उनकी साहित्यकृतियाँ अन्तर्मुखी नहीं लेकिन बहिर्मुख बन गयी है। उनकी नाट्यकृतियो में उत्कट भावनाओं की गहराई भले ही न हो, परन्तु उसमें स्पष्टता और तीक्ष्ण दृष्टि का अभाव नहीं है। उनके साहित्य मे देहाती वातावरण सहज स्वाभाविक रूप में अंकित हुआ है। उनके संवाद सरस, सरल और सजीव हैं। सहज चुटीले व्यंग्य और गुदगुदानेवाला हास्य उनकी कला की अपनी खासियत है। उनकी भाषा और लेखनशैली में ओज अवश्य है।

मामा ने साम्यवादी विचारधारा के मुताबिक सामाजिक क्रांति का उद्घोष किया और गांधीवादी नीति एवं गांधीवादी विचारधारा को अपनाते हुए समाज परिवर्तन के लिए रचनात्मक सामाजिक कार्यक्रमों पर बल भी दिया। उन्होंने आर्थिक पूँजीवाद का जितना विरोध किया उतना ही धार्मिक पूँजीवाद का कट्टरता के साथ विरोध किया। किसी भी प्रकार का पूँजीवाद हो मामा उसके विरोध में अपना कलम उठाते और साहित्यसर्जन करते। मामा न केवल मराठी रंगमंच के सुधारक थे। प्रगतिशील लेखक, चिंतक, साहित्यिक उत्तरदायित्व को निभानेवाले जागरूक व्यक्ति भी थे। उनके लिखे हुए नाटकों में पूर्ववर्ती मराठी रंगमंच की विशेषताएँ दिखाई देती हैं साथ ही नाटक और रंगमंच की आधुनिक विशेषताएँ प्रचुरता के साथ परिलक्षित होती है।

मामा के नाटकों में भाव और विचार का समन्वय

वस्तुतः मामा मात्र बुद्धिवादी नहीं है। हिंदी साहित्य के जाने माने आलोचक और

कहानीकार विष्णु प्रभाकर मामा वरेरकर के बारे में लिखते है, "नाट्यकला उनके हाथ में मात्र रस की अभिव्यक्ति का साधन भी नहीं है। वह तो मानवकल्याण का क्रान्त स्वर है। इसीलिए उनका साहित्य उद्देश्यमूलक होते हुए भी हृदयग्राही है। कहीं उलझन नहीं, दम्भ नहीं, सहजस्पष्टता और खरापन, विशुद्ध यथार्थवादी स्वर जो सीधा मर्मप्रहार करता है।" मामा वरेरकर के नाट्यलेखन की विशेषताएँ निर्देशित करते हुए विष्णु प्रभाकर ने मामा की और एक खूबी बतायी कि मामा को जीवन के प्रति आस्था थी। यही आस्था उनके जीवन का संबल था और यही उनके नाट्यलेखन का प्रेरणास्रोत भी।

सन 1916 में उन्होंने डाक विभाग की बीस वर्षों की नौकरी का इस्तीफा दे दिया था। लोग यही समझते थे कि स्वाधीनता संग्राम के कारण मामा ने नौकरी छोड़ दी होगी। लेकिन मामा ने स्वयं ही बातचीत के दौरान विष्णु प्रभाकर से कहा था कि, 1916 में तो स्वातंत्र्य संग्राम का आरम्भ भी नहीं हुआ था। उनकी अपनी दृष्टि से स्वाधीनता संग्राम का प्रारंभ असल में महात्मा गांधी के नेतृत्व से ही हुआ और उन्होंने इस्तीफा तो गांधीयुग के प्रारंभ होने के पहले ही दे रखा था। उनके इस्तीफा देने का एकमात्र कारण था रंगमंच का विशेष आकर्षण।

नाटक यही मामा का संसार था

नाटक ही मामा का संसार था। वे तो पहले से ही रंगमंच से जुड़े हुए थे। आकाशवाणी के जन्म के साथ ही मामा का उससे संबंध रहा। जिससे यह रिश्ता कहीं अधिक गहराया। 1927 में जब हिंदुस्तान मे ब्राडकास्टिंग का आरम्भ हुआ तो मामा ही सबसे पहले ब्राडकास्टर थे। आकाशवाणी के माध्यम से सबसे पहला नाटक भी उन्ही का ही प्रसारित हुआ था। खास तौर पर आकाशवाणी के ही माध्यम से प्रसारित किये जानेवाली श्रुतिनाट्य अथवा श्राव्यनाट्य की एक विधा जो आगे चलकर लोकप्रिय हुई, उसका सूत्रपात भी तो मामा ने ही किया था। मनुष्य के जीवन में सात अवस्थाएँ होती हैं उनका नाट्यरूप दर्शन मामा ने श्रुतिनाट्य (रेडियो प्ले) द्वारा करवाया। यह श्रुतिनाट्य मालिका के रूप में प्रसारित हुआ था। यह मालिका बहुत लोकप्रिय हुई। श्रुतिनाट्य जिसका मराठी में प्रचलित नाम 'श्रुतिका' है वह तो एकांकिका ही एक प्रकार है।

मामा वरेरकर ने 21 श्रुतिकाएँ और 14 एकांकी लिखे हैं। श्रुतिकाएँ तो अप्रकाशित है लेकिन उनके द्वारा प्रस्तुत एकांकियों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उनके लिखे एकांकियों में भी सामाजिक समस्याओं पर आधारित कथावस्तु है। उदाहरण के रूप में 'नया जमाना' का उल्लेख किया जा सकता है। मामा वरेरकर ने व्यक्ति की स्वाधीनता का निरंतर पुरस्कार किया है। पुरुषप्रधान समाज व्यवस्था में नारी पर लादी गयी दासता और उस पर होने वाले अन्याय-अत्याचारों पर मामा ने विपुल लेखन किया है। अगर आनेवाले समानता के युग में पुरुषों के अधिकार पदों को महिलाएँ ग्रहण करे तो नारी-पुरुषो में ही तनाव पैदा होने की संभावना है। 'नया जमाना' एकांकी में इसी तनावपूर्ण मानसिकता का

चित्रण है।

मामा का आकाशवाणी से उनकी मृत्युपर्यत संबंध बना रहा। यह कैसा विचित्र योग हे कि जिस समय उनकी चिता की राख ठंडी हो रही थी उन दिनों भी आकाशवाणी के दिल्ली केद्र से नाटक समारोह में मामा का ही नाटक प्रसारित हो रहा था।

रंगमंच और ध्वनि नाट्यकला के क्षेत्र में मामा ने जो कार्य किया उसी तरह सिनेनाट्य जगत से भी मामा का सम्बन्ध रहा है। विष्णु प्रभाकर लिखते है, "नाटक जहाँ कहीं भी, जिस रूप में भी हो मामा वही थे ही। इतनी अडिग आस्था रखनेवाले व्यक्ति विरला ही होते है। नाट्यकला के प्रति उनका आत्मसमर्पण एक पतिव्रता नारी के समान था। जिस आस्था से उन्होंने आधुनिक मराठी रंगमंच के निर्माण में जो योग दिया उस आस्था की आज भी आवश्यकता है।" वे सच्चे अर्थ में 'नाटकवाला' थे जिसका उल्लेख वे बड़े गर्व के साथ किया करते थे।

मामा वरेरकर ने ऐसे संक्रमण काल में नाट्यलेखन किया कि उसी कालखण्ड में पुरानी परम्पराएँ क्षीण होती जा रही थीं और नयी परंपराओं का आकर्षण अनिवार्य रूप से बढ़ता जा रहा था। शायद इस संक्रमण काल में मामा ही एक ऐसे मराठी नाटककार थे जिन्होंने मराठी नाटक और रंगमंच को अवनति से बचाते हुए बडी आस्था के साथ नाट्यकला को विकास एवं प्रगति के नये मोड़ पर लाने की कोशिश की। यही उनकी ऐतिहासिक उपलब्धि है। मामा के द्वारा प्रस्थापित नयी नाट्य परम्परा के साथ अपने आपको जोड़कर मो. ग. रांगणेकर और आचार्य प्र.के. अत्रे जैसे नाटककारों ने आगे चलकर मराठी रंगभूमि को समृद्ध किया। नयी परम्परा प्रस्थापित करने की ऐतिहासिक उपलब्धि के कारण मामा वरेरकर को युगप्रवर्तक नाटककार कहा जाता है।

■

5

मामा वरेरकर द्वारा प्रस्तुत आत्मकथा

मामा वरेरकर मराठी साहित्य जगत में एक उपन्यासकार और नाटककार के रूप में पेश आये है। जैसे कि पहले ही मैंने निर्देशित किया है कि इन दो साहित्य विधाओं के अतिरिक्त उन्होंने अन्य विधाओं में भी लेखन किया है जिसके आधार पर उनके कृतित्व, व्यक्तित्व और दृष्टिविशेष की पहचान मिलती है।

'मेरा नाटकीय जगत' (माझा नाटकी संसार) पुस्तक में मामा वरेरकर ने अपनी आत्मकथा लिखी है। इस आत्मकथा में उन्होंने मात्र अपने सम्पूर्ण लौकिक जीवन की एवं घरगृहस्थी की कहानी ही नहीं लिखी बल्कि नाटकीय जगत ही उनकी घरगृहस्थी होने के कारण उसकी भी हकीकत को सामने रखा है। उन्होने अपने लेखक बनने के समय अपनी साहित्यकीय रूचि-अरूचि को परिपुष्ट करनेवाली बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों का काल मराठी जनमानस की सर्वांगीण जागृति एवं सुधार के लिए छटपटाहट की उसकी चिंतनशील मनोवृत्ति का, प्राप्त परिस्थिति को आमूल बदल डालने की इच्छा रखनेवालों की आत्मीयता और विद्रोही प्रवृत्ति का परिचय देनेवाला काल था। महाराष्ट्र की राजनीति ही नहीं बल्कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुधारवादी आंदोलन भी इसी काल मे बड़ी तेजी के साथ विजयपथ की ओर अग्रसर होने लगे थे। कला, साहित्य, शिक्षा इत्यादि सांस्कृतिक क्षेत्रों में सर्वथा स्वतंत्र, स्वावलंबी बुद्धिचेता की प्रतिभाशाली तेजस्वी आत्मा की चमक दृष्टिगत होने लगी थी। इस महत्त्वपूर्ण कालखण्ड का आरम्भ विष्णुशास्त्री चिपलुनकर की 'निबंधमाला' से हुआ। सन 1874 में इसी 'निबंधमाला' के आविर्भाव के साथ आधुनिक मराठी साहित्य की बाल्यावस्था लगभग समाप्त हो चुकी थी। महाराष्ट्र के जनजीवन और उससे घनिष्ठ रूप से संबद्ध साहित्य में भी बड़ी तेजी से नये अंकुर प्रस्फुटित होने लगे थे। उनके पल्लवित और पुष्पित होने से मराठी साहित्य के क्षेत्र में नयी बहार आने लगी। मात्र साहित्य के क्षेत्र को सीमित करके हम देखें तब भी हमें ज्ञात होता है कि सन 1880 से लेकर 1890 तक के इन दस वर्षों में नए महाराष्ट्र का गठन करने के लिए जिस प्रज्ञा और प्रतिभा का योगदान मिला उसके कारण यह दशक मराठी साहित्य के इतिहास में विशेष स्मरणीय सिद्ध हुआ है।

इस दशक की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं। महाराष्ट्र के वैचारिक और भावनात्मक जीवन को नये मोड़ देनेवाले तीन साप्ताहिक पत्रिकाओं, लोकमान्य तिलक का 'केसरी',

गोपाळ गणेश आगरकर का 'सुधारक' और हरि नारायण आपटे का 'करमणूक' का जन्म इसी दशक में हुआ। अण्णासाहब किर्लोस्कर का लिखा हुआ 'संगीत सौभद्र' नाटक इस दशक के आरम्भ में प्रस्तुत हुआ। इसी नाटक ने सच्चे अर्थ मे मराठी 'रंगमंच' नाम को सार्थ बनाया। मनोरंजन तथा कल्पना का नाट्य और संगीत के साथ सुन्दर समन्वय इसी नाटक में हुआ जिसके कारण आज भी यह नाटक लोकप्रिय रहा है। नाटक की कथावस्तु पौराणिक होते हुए भी जनमानस पर इसका प्रभाव पारिवारिक नाटक के समान ही होता है। इन शब्दों मे इस नाटक की प्रशंसा प्रो. गंगाधर गाडगील जैसे ज्येष्ठ आलोचक ने की है। केवल मराठी उपन्यास को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मराठी ललित साहित्य को यथार्थ और उद्बोधक नया ऐतिहासिक मोड़ देनेवाले अपने सामाजिक उपन्यास 'लेकिन कौन ध्यान देता है?' (पण लक्षात कोण घेतो?) को इसी दशक के अंत में हरि नारायण आपटे ने प्रकाशित किया। आधुनिक मराठी नाटक और उपन्यास की परम्परा का प्रारम्भ इसी दशक में होता है।

राजकीय, सामाजिक और साहित्य से संबंधित महत्त्वपूर्ण घटनाओ से भरे हुए इसी दशक में भार्गव विठ्ठल तथा मामा वरेरकर का सन 1883 में जन्म हुआ। यह कालखण्ड सजग बुद्धिचेता कलाकारों को प्रेरित और प्रभावित करनेवाला था जिसका अनुभव करने का सौभाग्य बहुत थोड़े लेखकों को प्राप्त हुआ होगा। मामा वरेरकर इसी दशक से शुरू होनेवाली आधुनिक मराठी साहित्य की पिछली पूर्ववर्ती शताब्दी की विशिष्ट देन थे। उनकी लिखी आत्मकथा में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के निर्माण के साथ उन्नीसवीं सदी के अंतिम पच्चीस वर्षों की छवि भी प्रतिबिंबित हुई है। साहित्य के क्षेत्र से संबंधित घटनाओं की ओर ध्यान दें तो हरिभाऊ आपटे और श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर जो इसी कालखण्ड की महत्त्वपूर्ण हस्तियाँ मानी जाती है इन दो भिन्न प्रकृतियों के अभिजात प्रतिभावान कलाकारों ने पहले पच्चीस वर्षों में मामा वरेरकर की प्रतिभा को संस्करित एवं परिष्कृत किया। इसका कृतज्ञतापूर्वक निर्देश मामा ने अपनी आत्मकथा में किया है। उसके बाद बर्नार्ड शा और इब्सेन आदि के प्रभावी संस्कारों के परिणामस्वरूप मामा ने अपनी अलग पहचान बना ली जिसका जिक्र वे आत्मकथा में करते है। ऐतिहासिक दृष्टि से सन 1880 में शुरू हुआ आधुनिक मराठी साहित्य का स्वर्णकाल 1925 के लगभग समाप्त हुआ। अपना पृथकत्व साबित करते हुए भी मामा वरेरकर ने हरि नारायण आपटे और श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर की ही बिरासत को आगे चलकर सुरक्षित रखा। इस इतिहास के प्रमाण उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्यकृतियों में मिल जाते हैं, उनके द्वारा प्रस्तुत 'मेरा नाटकीय जगत' नामक आत्मकथा में भी मिलते हैं।

ध्यान रहे कि उनकी आत्मकथा अधूरी है। अधूरी इस दृष्टि से कि मराठी नाटक और रंगमंच से एवं विविध नाट्यक्षेत्रों से मामा वरेरकर पचास से भी ज्यादा वर्षों तक जुड़े हुए थे। वास्तव में तो जीवन के अन्त तक वे नाटक का अनुभव करते रहे, रंगमंच पर होनेवाले

नाटक का अनुभव करते रहे और जीवननाट्य का भी। पत्नी के देहान्त के पश्चात लौकिक अर्थ में उन्होंने प्रपंच तो किया ही नहीं। उनके परिवार में सिवा उनकी कन्या और नाती और नातिन के अतिरिक्त अन्य कोई सदस्य नहीं था। कुछ वर्षों तक मामा की विधवा बहन मामा के ही परिवार में रहती थी। असल में नाटक और रंगमंच ही उनका जीवन था और संसार भी। उनके घर में रसिकों का नित्य दरबार लगता था। उसमें लेखक, नाटककार, कलाकार और रंगकर्मी नियमित रूप से अपनी हाजिरी लगाते थे। मानों मामा के निजी परिवार का ही यह एक रूप था। राज्यसभा के सदस्य के नाते जब वे दिल्ली में रहा करते थे तब भी उनके निवास पर विविध भाषक साहित्यकारों का दरबार लगता था। मामा साहित्य के अनन्य उपासक थे। साहित्य की सेवा में जीवन समर्पित करनेवाले और उसी के सहारे जीविका चलाने की जिद रखनेवाले मामा के पचास वर्षां की आयु में मराठी रंगमंच के इतिहास में उतार का समय आया। वह इतना विलक्षण था कि पहले जहॉ बड़े जहाज़ शान से विहार करते थे वहाँ पर मानो छोटी कश्तियों के तैरने लायक पानी तक नहीं रहा। पर मामा डगमगाए नहीं। साहित्य उनका धर्मक्षेत्र था उसे छोड़कर वे दूसरे व्यवसाय की ओर कदापि नहीं मुड़े। अपने जीवन के आखिरी दिनों में कुछ समय तक उन्होंने 'शिलेदार' नामक पत्रिका का सम्पादन भी किया। किसी न किसी माध्यम से प्रतिकूल परिस्थिति के साथ वे बरसों तक जूझते रहे। उनके जैसे आठों प्रहर साहित्य और साहित्यकारों में रमनेवाले लेखक शायद मामा ही एक और अकेले थे। उनकी साहित्यनिष्ठा और साहित्य की उपासना ही के कारण सारे साहित्यिक चाहे वे बंगाली हों या तमिल हों उन्हें अपने निजी संबंधियों की तरह लगते। अखिल भारतीय साहित्य जगत् मामा से जितना परिचित है उतना मराठी साहित्य के किसी दूसरे व्यक्ति से नहीं। मामा का निजी परिवार छोटा सा लेकिन उनका यह जनपरिवार विशाल था। अपनी आत्मकथा को मात्र नाटकीय जगत से सीमित रहने तथा आत्मकथा के अधूरी ही रह जाने के कारण मामा के जनपरिवार का विस्तारपूर्वक परिचय उपलब्ध नहीं हो पाता। जो कुछ परिचय मिलता है वह अन्य साहित्यकारों के द्वारा लिखी उनकी यादों के सहारे मिलता है। उन यादों के द्वारा ही मामा के चरित्र और चारित्र्य, उनका आचरण और व्यवहार के संबंध का परिचय मिलता है।

मामा की पुत्री माया चिटणीस ने अपने पिता की यादें लिखी हैं, उसका भी प्रमाण मामा की आत्मकथा में मिलता है।

मामा के स्वभाव की विशेषताएँ

माया चिटणीस ने लिखा है, "कोई कहेगा कि सब तरह की सुखसमृद्धि के कारण मेरे पिताजी ये सब बातें आसानी से कर पाते थे। परन्तु उनके बारे में ऐसा सोचना बिल्कुल भ्रामक होगा। जब कुछ समझने की शक्ति मुझ में आयी तभी से मै यह देखती आयी हूँ कि जब उनकी बहुत ही कम आमदनी थी तब भी उन्होंने दूसरों के परिवारों को सुखी रखने के लिये अपनी पूरी शक्ति लगाकर कोशिश की। उस समय के गरीबी के दिनों में

भी मामा जी के घर को अपने ही सगे मामा जी का घर माननेवाले कई व्यक्ति थे। पोस्टमैन से लेकर नाटक कम्पनी के नट, कई बड़े साहित्यिक, समाचार व साहित्यिक पत्रिकाओ के सम्पादक, कुछ ना कुछ सीखने के उद्देश्य से उनके पास आनेवाले अनेक युवक, ऐसे विविध क्षेत्र के लोग अपने अपने काम के लिए हमारे यहाँ आकर कई दिनों तक रहा करते थे। घर का सब कार्यभार उठानेवाले के लिये वह एक बहुत कठिन समस्या बन जाती थी। परन्तु मेरी बालविधवा बुआ ये सब कठिनाइयाँ सहती जाती थी- सिर्फ पिताजी के दिल की इच्छा समझने के कारण। मेरे पिताजी के इस स्वभाव के ही कारण उनका मित्र परिवार भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला हुआ है।''

मामा की लिखी आत्मकथा अधूरी है। फिर भी उनकी पुत्री ने उनके स्वभाव की जो विशेषताएँ संक्षिप्त रूप में बतायी हैं उनके कुछ अंश उनकी आत्मकथा में उपलब्ध होते है।

मामा के पास धनदौलत की अमीरी तो थी नहीं लेकिन साहित्य एवं नाटकीय जगत के अनुभवों से वे संपन्न और समृद्ध शहेनशाह थे। अपने सम्पूर्ण जीवन का वृत्तान्त 'आत्मकथा' के रूप में लिखने का उनका इरादा था। उसमें नाटकीय जगत के अनुभवो का कथन तो अनिवार्य था ही। लेकिन साथ ही अपने जीवन के समग्र अनुभवों का कथन करने का भी उनका इरादा था। किसी भी लेखक की संपूर्ण अथवा सुयोग्य आत्मकथा में (Autobiography Proper) उसके जीवन चरित्र के साथ उसके परिवार का, जिस समाज का वह सदस्य है उस समाज का और जिस काल में वह रहता था उस काल का भी चरित्र चित्रित होता है। क्यों कि समकालीन सामाजिक जीवन की पृष्ठिभूमि पर ही लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व का निर्माण होता है। इसी दृष्टि से अपने सम्पूर्ण जीवन की कथा लिखने का अपना उद्देश्य जाहिर करते हुए मामा वरेरकर ने आत्मकथा के चार खण्ड सन 1941 से 1962 तक के दौरान प्रकाशित किये। लेकिन इन चार खण्डों में मामा के मात्र नाटकीय जीवन के पहले पच्चीस वर्षों की हकीकत समायी हुई है।

आत्मकथा के चार खण्ड

सन 1904 में मामा ने 'कुंजबिहारी' नाटक लिखा जिसका रंगमंचीय प्रयोग 1908 में प्रस्तुत हुआ। यह उनके नाटकीय जीवन का आरम्भ था और नाटकीय जगत का भी। यह नाटक पुस्तक रूप में सन 1914 में प्रकाशित हुआ। पहले दो खण्डों में लिखी आत्मकथा में मामा ने 1914 तक की हकीकत लिखी है। पहला खंड सन 1941 और दूसरा खण्ड सन 1952 में प्रकाशित हुआ। सन 1959 में तीसरा खंड प्रकाशित हुआ जिमसें 1914 से 1920 तक की हकीकत लिखी है। इसी कालखण्ड में पहला विश्वयुद्ध हुआ और इसी कालखण्ड में मामा ने सामाजिक नाटक की प्रचलित परम्परा को नया आयाम दिया। 1920 में तिलक युग समाप्त हुआ जिसके साथ मामा वरेरकर के जीवन का पूर्वार्ध समाप्त होने की स्थिति में था। यह 1920 की ही घटना है जिसका जिक्र मामा ने अपनी आत्मकथा

में किया है। लोकमान्य तिलक लंदन से लौटकर आये थे और मुम्बई स्थित सरदारगृह में विश्राम के लिए ठहरे थे। उसी समय मामा वरेरकर के लिखे हुए 'संन्यासी का संसार' नाटक के रंगमंचीय प्रयोग प्रस्तुत किये जा रहे थे। मामा वरेरकर की तीव्र इच्छा थी कि लोकमान्य तिलक भी इस नाटक का प्रयोग देखे। नाटक कम्पनी के संचालक की और कम्पनी के ही एक अभिनेता की मध्यस्थता से लोकमान्य तिलक से अनुरोध किया गया। ध्यान में रखे कि राजनीति के सिलसिले में व्यस्त होने के बावजूद लोकमान्य तिलक ने मामा के नाटक का प्रयोग देखा और तीसरे अंक की शुरूआत होने से पहले उन्होंने छोटा भाषण भी दिया जिसमे उन्होंने कहा, "नाटक का प्रयोग अच्छा रहा। मुझे केशवराव का गाना बहुत पसंद आया। लेकिन मुझे संदेह है कि शायद नाटक का विषय नया और सुधारवादी होने के कारण लोग कहाँ तक इसका स्वीकार करेगे। हम तो परम्परावादी हैं और हमें अपनी परम्परा का गर्व है। इस परंपरा में पतित परावर्तन को स्थान नहीं।"

लोकमान्य तिलक ने नाटक के रंगमंचीय प्रयोग की प्रशंसा की लेकिन नाटक के युगानुरूप विषय को उन्होंने प्रोत्साहन नहीं दिया। इस नाटक के रंगमंचीय प्रयोगद्वारा जो धनप्राप्ति हुई वह पूना के 'अनाथ विद्यार्थी गृह' की मदद के रूप में दी गयी। वास्तव में इस नाटक का यह विशिष्ट प्रयोग इस संस्था की मदद के लिए ही प्रस्तुत किया था। खेद की बाद है कि लोकमान्य तिलक ने नाट्यविषय के बारे में नापसंदगी तो व्यक्त की लेकिन दूसरे दिन के 'केसरी' में उनके मुंबई के वास्तव्य में आयोजित सभी कार्यक्रमों की रपट प्रकाशित हुई जिसमें नाटक के प्रयोग का एवं अनाथ विद्यार्थी गृह को जो आर्थिक मदत दी गयी उसका नामनिर्देश भी नहीं था। इसी नाटक के संदर्भ में मामा ने और एक हकीकत बतायी है। मामा वरेरकर का नाटक कम्पनी के साथ उमरावती में वास्तव्य था। इस वास्तव्य के दौरान उन्होंने दादासाहब खापर्डे से भेंट की और नाटक के दो अंक उनको पढ़कर सुनाये। परिणाम यह हुआ कि नाट्यविषय के कारण दादासाहब को गुस्सा आया और उन्होंने उमरावती में इस नाटक के रंगमंचीय प्रयोग का कड़ा विरोध किया। दादासाहब खापर्डे उस जमाने में मध्य प्रांत से जुड़े वऱ्हाड के महान नेता थे।

अपनी 'आत्मकथा' में मामा ने ऐसे कई अनुभवों का कथन किया जिससे यह सिद्ध होता है कि उनकी सुधारवादी एवं परिवर्तनवादी भूमिका तिलक युग के राजनीतिक नेताओं को पसंद नहीं थी। गांधीयुग में मामा के जीवन के उत्तरार्ध में पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे महान नेता ने मामा के व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशंसा की और कदर भी। लेकिन उनकी अधूरी आत्मकथा में उनके जीवन के उत्तरार्ध की हकीकत उपलब्ध नहीं है। क्यों कि सन 1962 में 'आत्मकथा' का चौथा खंड प्रकाशित हुआ जिसमें सन 1920 से 1933 तक की हकीकत का निवेदन है। जैसा मैंने पहले ही बताया कि मामा की 'आत्मकथा' में उनके प्रारम्भिक काल के 'नाटकीय जीवन' का परिचय मिलता है। जीवन के उत्तरार्ध की कुछ हकीकत उन्होंने लिखी थी जो प्रकाशित नहीं हो पायी। 1963-64 के दौरान

'गोमंतक' पत्रिका के भूतपूर्व संपादक बा.द. सातोस्कर ने 'रविवारीय गोमंतक' में मामा वरेरकर की कुछ यादें प्रकाशित की थीं जो पुस्तक रूप में उपलब्ध नही हैं। फलत: मामा की 'आत्मकथा' अधूरी ही रह गयी।

आत्मकथा लिखने की मामा की भूमिका

अपनी आत्मकथा लिखते हुए मामा ने लिखा कि, "मैं अपने अनुभवों की बखर तैयार कर रहा हूँ।" गौर करे कि आत्मकथा के संदर्भ मे मामा ने मराठी की परिभाषा में प्रचलित 'आत्मचरित्र' शब्द का प्रयोग नहीं किया बल्कि प्राचीन मराठी गद्यसाहित्य की एक विधा का- 'बखर' शब्द का ही प्रयोग किया।

'आत्मकथा' के प्रारम्भ में मामा वरेरकर ने लिखा है, "बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी की मैं आत्मचरित्र लिखूं। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने अपना 'आत्मचरित्र' लिखा था जो उनकी मृत्यु के पश्चात प्रकाशित हुआ। और उन्होंने जिस हकीकत का उसमें निवेदन किया था, अनुभवों का जो कथन किया था, जिन व्यक्तियों के स्वभाव एवं कृतिउक्तियों का वर्णन किया था इन सभी कारणों से उनका आत्मचरित्र वादविवाद के घेरे में फँस गया। क्यों कि जिन व्यक्तियों के बारे में उन्होंने लिखा वे सच्चाई को छिपाने के लिये एक दूसरे पर कीचड़ उछालने लगे और श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के आत्मचरित्र को झूठ साबित करने की कोशिश करते रहे।"

यह देखकर मामा बहुत व्यथित हो गये थे। क्यों कि श्रीपाद कृष्णा कोल्हटकर तो उनके गुरू थे। इसी लिए मामा ने निर्णय कर लिया था कि अगर आत्मचरित्र मैं कभी लिखूँ तो उसे अपनी हयात में प्रकाशित करना उचित होगा। मामा ने दूसरा भी एक निर्णय कर लिया था जिसके बारे में उन्होंने लिखा है, "मैं कौन हूँ', मैंने जीवनभर में क्या क्या किया इसका दांभिकता के साथ उच्चार करने की मेरी इच्छा ही नहीं। जीवन के दूसरे क्षेत्रों में मेरा जो कृतित्व है उसके बारे में मैं आत्मकथा में कुछ लिखना ही नहीं चाहता। लेकिन नाट्यक्षेत्र को तो मैंने अपना संपूर्ण जीवन ही समर्पित किया था। रंगमंच और नाट्य वाङ्मय के क्षेत्र में नयी चेतना और आधुनिकता लाने के लिए मैंने अपना तन मन और बुद्धि के साथ साथ मेरी प्रतिष्ठा, इज्जत और मेरा स्वाभिमान भी दाँव पर लगाया था जिसके कारण मुझे बहुत क्लेश, पीड़ा, उपेक्षा, विडंबना झेलनी पड़ी। अगर मैं अपनी मृत्यु के पहले ही इस इतिहास की बखर ना लिखू तो यह रंगभूमि के साथ विश्वासघात होगा।"

मामा के इस निवेदन से यह स्पष्ट होता है कि किस हेतु से वे आत्मकथा लिखने के लिए प्रेरित हुए और क्यों उन्होंने अपनी आत्मकथा नाट्य जगत तक ही सीमित रखी।

मामा की आत्मकथा 'बखर' के रूप में

मामा अपनी कहानी 'बखर' के रूप में ही लिखना चाहते थे। 'बखर' की साहित्यिक विशेषतओं के बारे में आलोचकों में एवं इतिहासकारो में मतभेद तो अवश्य है ही। क्यों कि गद्यसाहित्य की एक विधा होते हुए भी 'बखर' इतिहास का ही एक आविष्कार माना

जाता है। विश्वसनीय सत्य की अभिव्यक्ति तो इतिहास की मुख्य विशेषता होती है। लेकिन उपलब्ध बखरकृतियों में वास्तविक घटनाओं के वर्णन के साथ साथ काल्पनिकता कहीं अधिक होने के कारण विश्वसनीय सत्य के बारे मे संदेह पैदा होने लगता है। बखरकारों की दृष्टि एवं उनकी वर्णनशैली की ओर देखें तो 'बखर' का स्वरूप ऐतिहासिक उपन्यास जैसा प्रतीत होता है। यही बिंदु विवाद खडा कर देता है। 'बखर' साहित्य की विधा को इतिहास माना जाए या ऐतिहासिक उपन्यास। इसी एक तथ्य को लेकर विवाद खड़ा होता है। फिर भी एक मुद्दे पर आलोचक और इतिहासकार सहमत है कि 'बखर' में सत्य घटनाओं का कालक्रम के अनुसार निवेदन किया जाता है।

अपने ही जीवन की कथा लिखते हुए प्रारंभ से जो घटना जैसी घटी उसका कालक्रम के अनुसार हकीकत निवेदन करने पर मामा ने बल दिया है। वे अपने 'नाटकीय जीवन' की बखर तैयार कर रहे थे और साथ ही मराठी रंगमंच की भी। क्यों कि उनका संपूर्ण जीवन ही रंगमंच से जुड़ा हुआ था। उनके 'नाटकीय जीवन' का प्रारंभ 'तिलकयुग' में हुआ और विकास 'गांधीयुग' में। स्वाधीनता युग में जीवन के अंत तक वे लिखते रहे। मामा जितने तिलक और गांधीयुग के गवाह हैं उतने ही स्वातंत्र्योत्तर युग के भी गवाह हैं। उनकी आत्मकथा में रंगमंच की 'बखर' तैयार हो रही थी वैसी उनके संपूर्ण युग की राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक कालखण्ड की भी बखर तैयार हो रही थी। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है कि मामा की 'आत्मकथा' अधूरी रह गयी। इसका एक अर्थ यह है कि मराठी रंगमंच की और जिस कालखण्ड के उतारचढ़ाव के मामा गवाह थे उस कालखण्ड की मामा की मनचाही बखर अधूरी रह गयी।

अर्थात, जो चार खण्ड प्रकाशित हुए उनका महत्त्व तो है ही क्यों कि उनमें मामा के नाटकीय जीवन के पूर्वार्ध का रंगमंच के उतारचढ़ाव का परिचय मिलता है। स्वाधीनता संग्राम में मामा वरेरकर किस हद तक सक्रिय हुए थे, यह कहना मुश्किल है। लेकिन स्वाधीनता संग्राम के कालखण्ड की वास्तविक स्थिति गति से वे कितने अवगत थे और उस स्थिति गति से उनकी साहित्य कृतियाँ कितनी प्रभावित थी इसके प्रमाण उनके द्वारा प्रस्तुत 'आत्मकथा' में मिलते हैं।

मामा वरेरकर के जीवन में घटित हुई कतिपय घटनाओं का जिक्र मामा वरेरकर का 'व्यक्तित्व और कृतित्व' प्रकरण में किया है। उनकी अधिक जानकारी उनकी लिखी 'आत्मकथा' में मिलती है। उदाहरण के तौर पर कहना हो तो डा. कीर्तिकर के कारण ही मामा को शा और इब्सेन के नाटकों में रूचि पैदा हुई। डाक विभाग में नौकरी करने के पहले मामा रत्नागिरी के सिविल अस्पताल में मेडिकल छात्र के नाते काम कर रहे थे। वहाँ डॉ. कान्होबा रणछोडदास कीर्तिकर सिविल सर्जन थे। मामा ने उनसे संपर्क बनाये रखा था। डा. कीर्तिकर के जीवनचरित्र की अधिक जानकारी मामा की 'आत्मकथा' में मिलती है।

आत्मकथा लिखने का उद्देश्य

रंगमंच के क्षेत्र में रहते और अपने नाटकीय संसार की बागड़ोर सम्हालते हुए मामा का अनेक बुजुर्गों से संबंध जुड़ा एवं कई विख्यात व्यक्तियों के वे संपर्क मे आये। अधिकांश लोगो ने उनकी मदद की और मामा ने भी अपने जीवन में उनका भलाबुरा अनुभव किया। कुछ अनुभव तो ऐसे भी थे कि किसी भी साधारण व्यक्ति के मन में कडवाहट कायम बनी रहती। आत्मकथा लिखते समय मामा ने अनुभवों, घटनाओं अथवा व्यक्तियो के बारे में सच्चाई छिपायीही नहीं। मामा को कई बार प्रतिकूल परिस्थिति से सामना तो करना ही पड़ा और ऐसा सामना करते-करते ही वे अपने निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अथक प्रयास करते रहे। मामा लिखते हैं, "मेरे जीवन का इतिहास, मेरे अनुभवों की बखर आनेवाली पीढियों के लिए मार्गदर्शक बनी रहेगी और उद्‌बोधक भी। अगर इस इतिहास के बारे में कुछ कहे बिना मैं चुप बैठ जाता तो आनेवाली पीढ़ि का मैं अवश्य-अपराधी सिद्ध होता।" इन शब्दों में मामा ने अपनी 'आत्मकथा' लिखने का उद्देश्य जाहिर किया जिसमें उनकी सरलता एवं उनकी सच्चाई के प्रति आस्था व्यक्त होती है। अनुभवों के सत्य को न उन्होंने छिपाने की कोशिश की न ही अतिरिक्त एवं विपरीत रूप में पेश किया। 'आत्मकथा' के द्वारा अपनी फरियाद अदा करते हुए अपनी गलतियों और अपनी कमियों को स्वीकार करते हुए उन्होंने प्रस्तुत किया। अपनी कथा के पहले खण्ड में अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि, "मेरी आत्मकथा में कुछ घटनाएँ और प्रसंग ऐसे भी है जिनका एक पहलू मेरी समझ में आया और जिनके दूसरे पहलुओं के बारे में मैं अंधेरे में ही रह गया हूँ। उन पर प्रकाश डालना यह उन व्यक्तियों का कर्तव्य है जो इन घटनाओं से संबंधित रह चुके हैं। ऐसा तो हैही नहीं कि कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ होता है और उसकी सारी जानकारी परिपूर्ण होती है। कर्तव्यनिष्ठा के साथ अपनीही मस्ती में आगे चलते हुए मनुष्य अपने पावों तले कूड़े के साथ फूल भी कुचलते हुए जाता है। कर्तव्यनिष्ठा की कठोरता के कारण मनुष्य को आत्मविस्मृति हो जाना स्वाभाविक है। फलतः उसके हाथों से गलतियाँ हो जाती हैं।" अपने कर्तव्य के प्रति मामा की अविचल निष्ठा थी और गहन आस्था भी। वैसे तो मामा इतने स्वाभिमानी थे कि गलति के बावजूद किसी के आगे क्षमायाचना के लिए शायद ही झुकते। फिर भी उन्होंने 'आत्मकथा' के प्रारंभ में पाठकों से अनुरोध किया है कि उनकी गलतियों की ओर सहानुभूति से एवं क्षमा की दृष्टि से ही देखा जाये। प्रसंग और घटना की ओर देखने की हर व्यक्ति की दृष्टि अलग अलग होना संभव है। अगर हर व्यक्ति का निजी अनुभव सही अथवा उचित होता तो उसकी आलोचना करते हुए मन का संतुलन बिगड़ना उचित नहीं। इस धारणा से ही मामा ने ऐसा अनुरोध किया होगा क्यों कि मामा के स्वभाव में ऐसी कुछ विशेषताएँ थीं जिसके कारण उनके बारे में कुछ गलतफहमियाँ भी फैली हुई थीं। उनकी आत्मकथा में उसके कुछ प्रमाण भी मिलते हैं।

मामा के व्यक्तित्व के विशेष पहलू

मामा खिलाड़ी वृत्ति के थे और नटखट भी। उनकी जबान तीखी और फक्कड भी थी। वे अपनी मस्ती में बेमतलब अथवा बेबुनियाद बातें भी ऐसे ढंग से कह देते कि बुजुर्ग तो उनको गपिया मामा ही कहने लगे।

मामा के दो नाम थे। एक मामा वरेरकर और दूसरा भार्गवराम विट्ठल वरेरकर। मामा का व्यक्तित्व दोहरा था। उनके दो नामों मे अंतर केवल नाममात्र नही था बल्कि ये सचमुच अलग-अलग व्यक्तित्व थे, एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न। मामा खुद ही तो कभी कभी मज़ाक मे कहते थे, "यह भा.वि. वरेरकर चोर और 'युजरपर' (usurper) है। उसने मेरा नाम लेकर मेरी उपलब्धियों का अपने लिए लाभ उठाया है। मैं मामा वरेरकर हूँ।"

वस्तुत: यह बात शायद बिल्कुल उल्टी थी। साहित्य के क्षेत्र में जिसने कड़ी साधना की और विलक्षण प्रतिकूल परिस्थितियों और आलोचकों की टीका टिप्पणियों का सामना करते हुए नाम कमाया वह थे भा.वि. वरेरकर। उनकी कमाई पर मामा वरेरकर ऐश करते थे और बेकार बैठे बैठे बीड़ी फूँकते रहते थे। मामा के स्वभाव की एक खूबी थी। वे बचपन ही से बड़े शरारती थे। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक उनकी शरारतों के कई किस्से तो वे खुद ही सुनाया करते थे। इसी शरारती स्वभाव के कारण महाराष्ट्र में, विशेषतया मराठी साहित्य और नाट्य के क्षेत्र में उन्होंने कई विवादों को जन्म दिया। इतना की 'विवादी' ही मामा का दूसरा नाम हो गया। इन विवादों की सीमा साहित्य और रंगमंच तक सीमित नहीं रह पायी, इसकी हद से गुजर कर बाहर चली जाती थी, उसकी मामा को परवाह नहीं थी। लोगों से, परिस्थितियों से एवं समीक्षकों की तीखी कड़वी टिप्पणियों से जूझने की यह आदत और ताकत उनमें अंत तक बनी रही।

मामा के इस दोहरे व्यक्तित्व का प्रमाण उनकी आत्मकथा में मिलता है। उनके दोहरे व्यक्तित्व के बारे में भाष्य करते हुए मा. कृ. पारधी ने लिखा है, "आगामी सदी के साहित्यिकों और आलोचकों को यदि अनुसंधान करना पड़ा कि क्या मामा वरेरकर और भा. वि. वरेरकर ये दो भिन्न व्यक्ति थे या एक ही व्यक्ति के दो नाम थे, तो इसमें आश्चर्य नहीं।"

अर्थात, इसमे कोई संदेह नहीं कि ये दोनों व्यक्तित्व एकही सिक्के के दो पहलू थे। इसके प्रमाण मामा की 'आत्मकथा' में यथास्थान मिलते हैं। ऐसा कहा जाता है कि 'आत्मचरित्र' में चरित्रनायक के सही-सही एवं सर्वथा संपूर्ण व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। मामा के व्यक्तित्व की जितनी पहचान उनकी 'आत्मकथा' में होती है उतनी शायद ही उनके लिखे हुए उपन्यासों और नाटकों के द्वारा होती होगी।

मामा का जीवनसंघर्ष

मामा की प्राय: सारी जिन्दगी खस्ता हालत में ही गुजरी। दरिद्रता के कारण मामा की खुद्दारी ने किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। किसी भी सभा में बोलते वक्त मामा की जबान में लगाम नहीं होती थी। परन्तु उनके बोलने का उज्जड एवं उखड़ा उखड़ा ढंग उनके

साहित्य में खोजने पर भी नही मिलेगा। शायद उसके प्रमाण उनकी 'आत्मकथा' में ही मिलते हैं। आचार्य अत्रे तो मामा के समकालीन थे। मामा ने पूना के लोगो के प्रति एक बार जो बुरा मत बना लिया था, वह अंत तक उन्होने नही बदला। इसी के कारण उनसे आचार्य अत्रे की खूब ठनी थी। मामा ने अत्रे जी के 'प्रल्हाद केशव अत्रे' नाम का विडंबन करते हुए उन्हें 'अल्हाद बेचव अत्रे' कहा और आचार्य अत्रे ने उनको 'गप्पी मामा' कहा। इन दोनों मे विवादों का भयंकर महाभारत हुआ। इसी संदर्भ को लेकर आचार्य अत्रे ने लिखा है, "इतना महाभारत हुआ फिर भी जैसे कुछ हुआ ही नहीं इस तरह की निर्वेर वृत्ति से वे व्यवहार करते थे। सन 1937 में पुना में शिवाजी अखाड़े में 'अत्रे-माटे' वाद की जो विशाल सभा हुई थी उसकी अध्यक्षता मामा ने बड़े आनन्द से की थी।" आचार्य अत्रे आगे चलकर लिखते है, "मामा नटखट थे पर चिड़चिड़े नहीं थे। व्यंग्यपूर्ण तो अवश्य थे पर ओछे नहीं थे। इसी के कारण मामा से दो हाथ करने में मजा आता था।"

मामा का निर्विवाद नैतिक चरित्र

मामा के साहित्य की तरह उनका नैतिक चरित्र भी शुद्ध और निरपवाद था। न तो नाममात्र कहने को भी मामा में कोई बुरी आदत थी और न ही बिना किसी कारण वे कोई ऊटपटांग वाद निर्माण कर देते और उस पर लड़ते रहते। मामा का साहित्य उनके चरित्र के समान ही निर्मल और कलुषरहित था। उनके ऐसे निरपवाद चरित्र के कतिपय प्रमाण उनकी लिखी 'आत्मकथा' में ही मिलते हैं। मामा की सही सही पहचान करा देने के लिए महत्त्वपूर्ण दस्तावेज के रूप में उनकी 'आत्मकथा' कथा का अपना उतना ही महत्त्व है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि उनकी आत्मकथा अधूरी है। आगे चलकर यदि कोई लेखक निश्चय कर ही ले तो मामा वरेरकर का सम्पूर्ण चरित्र लिखना उसके लिए असंभव नहीं है।

6

उपसंहार

अभी तक के पाँच प्रकरणों में मामा वरेरकर के व्यक्तित्व और कृतित्व की चिकित्सा की गयी है। जिसमें उनकी जीवन और साहित्यविषयक दृष्टि का भी सहज रूप में परिचय मिलता है। उनकी दृष्टि एवं साहित्यविषयक भूमिका की पहचान उनके लिखे हुए उपन्यासो, नाटकों में होती है। उनकी आत्मकथा में उनके चरित्र और चारित्र्य की सही सही जानकारी प्राप्त होती है। उनका चारित्र्य आदरणीय एवं प्रशंसा के योग्य था। एक तरह से उनका लौकिक जीवन आम आदमी की भाँति साधारण ही था। लेकिन इनके व्यक्तित्व मे कुछ ऐसे ही गुण थे जिसके बल पर वे असाधारण ऊँचाई तक जा पहुँचे। तिलक युग की पीढ़ी के अनेक युवक पुरुषार्थी निकले। इस पीढ़ी में उभर कर सामने आये हुए पुरुषार्थी लोगो में मामा वरेरकर की भी गणना करनी चाहिए। सरकारी नौकरी छोडकर जनजागृती के लिए मामा ने लेखनी उठाई और जीवन के अन्त तक मानों नीचे नहीं रखी। लोकमान्य तिलक कहा करते थे कि देशभक्ति अनेक मार्गो से की जा सकती है। मामा का मार्ग साहित्यसेवा के जरिये समाजसेवा करने का था। साहित्यसृजन ही मामा के जीवन का प्रमुख क्षेत्र था।

उनकी साहित्यकृतियों पर विविध प्रकार की आपत्तियाँ उठायी गयी और उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में विवाद खड़े हो गये। फिर भी उनके कृतित्व का मराठी साहित्य जगत में जो अमूल्य योगदान है उसके प्रति किसी ने संदेह नहीं किया न ही किसी के इस संबंध मे दो मत थे। कलात्मक सर्जन की दृष्टि से उनकी साहित्यकृतियों में कुछ दोष अथवा कुछ कमियाँ होते हुए भी उनके कृतित्त्व का अनन्य साधारण महत्त्व सिद्ध होता है। उनके विचार, आचार और स्वभाव की अवश्य कुछ सीमाएँ थी। फिर भी उनका व्यक्तित्व विलोभनीय एवं लोकप्रिय था। वे तो वसुधैवकुटुम्बकम् की मूर्ति ही थे। उनका सहज-सरल स्नेहल स्वभाव, उनकी अखण्ड साहित्यसाधना और आदर्शो के प्रति अमिट आस्था ये ऐसी विलक्षण विशेषताएँ थीं कि जिसके कारण छोटे बड़े सभी उनसे प्रभावित हुआ करते थे। गौर करने की बात है कि उन्होंने सभी लोगों के साथ 'मामा' का ही जगत्मान्य एवं प्रिय रिश्ता रखा और छोटे-बड़ों के, नयी और पुरानी पीढ़ी के बीच में सदा सेतु बन कर रहे।

हर पीड़ी से मामा ने यही कहा कि, "मुझे अपनों में से एक मानकर आपके साथ घुलमिल जाने दो। मैं प्रतिष्ठा नहीं चाहता स्नेह चाहता हूँ। मै परामर्श दूँ या न दूँ, परिहास

अवश्य करूंगा। मैं पूजा का पात्र हूँ, जीर्ण पीपल का तरु नहीं हूँ। मेरी सदाबहार साया में अटखेलियाँ करते रहो- इसी में मेरा सुख है।'

मामा बड़े ज़िन्दादिल आदमी थे। इक्क्यासी वर्षो की उम्र में बुढ़ापा उन्हें छुआ तक नहीं था। हर काम को वे युवको जैसे उत्साह से किया करते थे। उनके व्यक्तित्व की यह अपनी विशेषता थी। जो उनके कृतित्व में स्थान स्थान पर परिलक्षित होती है। इस दृष्टि से उनका व्यक्तित्व और कृतित्व एक और था, साहित्य से उनका अद्वैत संबंध स्थापित हुआ था। उनके 'नाटकीय संसार' से उनका निजी संसार अलग नहीं किया जा सकता क्यों कि वे नाटकीय संसार से सर्वथा एकरूप हो चुके थे। इसी तरह उनका व्यक्तित्व उनके कृतित्व में इतना धुल गया था कि उनको एक दूसरे से अलग करके देखना मुश्किल होता है। इसी अद्वैत भाव के कारण उनका व्यक्तित्व जितना अनन्यसाधारण माना जाता है उतना ही उनका कृतित्व भी, इसमें कुछ संदेह नहीं।

मामा किसी एक के नहीं सबके थे। वे गांधीवादी भी थे और प्रगतिवादी भी। वे समाजसुधारक भी थे और निष्ठावान कलाकार भी। वे अपने विचारों के प्रति आग्रही रहे लेकिन दूसरों के प्रति वे दुराग्रही नहीं थे। वे जनसंघ से प्रेरित डाक्तर रघुवीर के भाषा सम्मेलन में भी गये और दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित हिन्दी विचार परिषदो में भी गये। कांग्रेस जनों के बीच भी उनका वैसा ही समादर था, समाजवादी भी उनसे प्रेरणा प्राप्त किया करते थे। साम्यवादी भी उनको अपने हमराही मानते थे।

मामा की एक ही कामना थी कि रंगमंच के क्षेत्र में कोई अभिमान हो, तो उन्हें शामिल अवश्य किया जाय, उनकी पूछ अवश्य हो। पृथ्वीराज, आदि मर्ज़बान, दीना गांधी, अलकाजी, शम्भु मित्र, कर्नल गुप्ते इत्यादि कलाकारों और संचालकों के अलग अलग सिद्धान्त रहे हैं। परंतु मामा इन सबके साथ अपने निजी सम्बन्ध रखने के लिए सर्वदा तत्पर रहे। रंगमंच के क्षेत्र में अनेक सज्जन, सिद्धान्तों और वादों के फेरे में पड़ जाते थे। मामा सबके साथ थे शायद वे मत-मतान्तरों के जंजाल में उलझ कर रंगमंच के पुनरूत्थान की गाड़ी के मार्ग में रोडे अटकाना नहीं चाहते थे। नाटक और रंगभूमि के प्रति उनकी आस्था थी। रंगमंच के देवालय में प्राणप्रतिष्ठा करने के लिए जहाँ से भी योगदान मिले, मामा को स्वीकार था।

रंगभूमि के पुनरूत्थान के लिए मामा ने क्या कुछ नहीं किया? मुंबई में गिरगाव की मध्यवर्गीय वस्ती में रहते हुए मध्यमवर्गीय रंगभूमि के साथ वे जितने जुड़े हुए थे उतने ही गिरणगाँव के कामगार वर्ग की रंगभूमि से भी जुड़े हुए थे। गिरणगाँव के मिल मज़दूरों और श्रमिक वर्गियों में से ही जो कलाकार, रंगकर्मी और नाटककार रंगभूमि के पुनरूत्थान के अभियान से जुड़े हुए थे उनके साथ भी मामा ने अपने संबंध जोड़ रखे थे। उनमें से कई लोग मामा के घर के दरबार में हाजिरी लगाया करते थे। और मामा अपने मित्र पु. रा. लेले के साथ स्वयं गिरणगाँव में जाकर उनको प्रोत्साहित किया करते थे। दामोदर हाल

उस जमाने में कामगार रंगभूमि का केंद्र था और अधिकांश नाटककार जो कामगार भी थे अपने लिखे हुए नाटक के प्रयोग इसी हाल में रंगमंच पर प्रस्तुत किया करते थे। मामा वरेरकर हंसमुख वदन से दामोदर हाल (परेल) के मंच पर नाट्यप्रदर्शनो को देखते और बाद में मंच के पीछे जाकर कलाकारों की पीठ ठोकते। मराठी नाट्यजगत का इतिहास तो यही कहता है कि मामा वरेरकर गिरगॉव की रंगभूमि को गिरणगाँव में ले आए। मराठी रंगभूमि के पुनरूत्थान में कामगार रंगभूमि का सराहनीय योगदान है।

एक प्रकार से मामा का जीवन और उनका जीवन दर्शन खुली पुस्तक की तरह था जिसे हर कोई पढ़ सकता था और उसमें से अपने लिए प्रकाश पा सकता था। उनकी लिखी हुई कहानी हो अथवा उपन्यास, उनका लिखा हुआ नाटक हो अथवा एकांकी उसे हर कोई पढ़ सकता था और उससे संदेश पा सकता था। महाराष्ट्र की सीमाओं को लाँघकर उनकी प्रतिभा ने सारे देश को प्रेरित और प्रभावित किया यह उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

मामाजी को कौन नहीं जानता था? विभिन्न भारतीय भाषाओ का नित्य संपर्क होता रहे, ऐसी मामा की इच्छा थी। यह उनके लिए सबसे अधिक प्रिय विषय था। जीवन भर उन्होंने अपने लिए विभिन्न भाषा-भाषी मित्र परिवार बनाया। मामा का घर ऐसे संपर्क का कार्यालय था। देश को स्वतंत्र हुए कई वर्ष हो गये पर भाषिक संपर्क का कोई ठोस प्रयत्न नहीं हो रहा है, ऐसी मामा की शिकायत थी। यह बात सच भी है। महाराष्ट्र को ऐसे भाषिक सम्पर्क के कार्य का नेतृत्व ग्रहण करना चाहिए यह उनका निरन्तर आग्रह था।

मामा का मित्र परिवार भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला हुआ था। महाराष्ट्र के बाहर इतनी ख्याति प्राप्त करने वाला और मराठी भाषा के अलावा अन्य भाषाओं के साहित्यजगत में भी अपने साहित्य कृतित्व को मान्यता प्राप्त करा लेने वाले साहित्यकार मामा ही एक और अकेले व्यक्ति थे। दूसरे शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि मामा मात्र व्यक्ति नहीं एक युग थे, जिस का अन्त भी उनके स्वर्गवास हो जाने के साथ ही हुआ।

1960 तक मराठी साहित्य प्राय: मध्यम वर्ग तक ही सीमित था। 1960 के बाद मराठी साहित्य ने नया मोड़ लिया। मध्यमवर्गीय जीवन की परिधियों का उल्लंघन करते हुए मराठी साहित्य का प्रवाह बहुजनसमाज की ओर मुड़ गया। उस समय सम्पूर्ण साहित्य के क्षेत्र पर अभिजन वर्ग का ही प्रभुत्व था। लेकिन स्वाधीनता प्राप्ति के बाद मराठी साहित्य के क्षेत्र में एक लक्षणीय परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। बहुजन समाज में नवजागरण की प्रक्रिया का प्रारंभ हुआ, जिसके कारण बहुजन समाज के विविध स्तरों पर साहित्य सृजन की प्रक्रिया गतिमान होने लगी, स्वाभाविक रूप में साहित्य की प्रकृति एवं प्रवृत्ति बहुजनवादी होने लगी। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ग्रामीण साहित्य, दलित साहित्य, जनवादी साहित्य के नाम से विविध प्रवाह मराठी जगत में दृष्टिगत होने लगे।

क्या यह परिवर्तन आकस्मिक और अचानक हुआ?

मामा वरेरकर के लिखे हुए उपन्यास और नाटको का एवं उनकी साहित्यिक दृष्टि और भूमिका का चिकित्सक दृष्टी से अध्ययन करते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 1960 के बाद बहुजनवादी साहित्य के विविध प्रवाहो मे जो प्रेरणा और प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है उनके अंकुर तो मामा वरेरकर के साहित्यसृजन में ही फूटे है। मामा की पैदाइश और परवरिश मध्यमवर्गीय परिवार में हुई जो अभिजन वर्ग का ही एक हिस्सा रहा है। फिर भी उनकी जीवन दृष्टि एवं साहित्यिक दृष्टि बहुजनवादी ही थी। लेखक के नाते वे मध्यमवर्गीय लेखक ही तो थे। इसीलिए एक ओर उनका रिश्ता मध्यम वर्गीय साहित्य के युग से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। दूसरी ओर उनके साहित्यसृजन का संबंध भविष्य में आनेवाले बहुजनवर्गीय साहित्य से भी जुड़ा हुआ था। किसी द्रष्टा युगपुरुष की तो यही विशेषता होती है कि वह अपने युग में रहते हुए आनेवाले युग को पहचानता है। और अपने कृतित्व में आनेवाले युग की प्रवृत्तियो का सूत्रपात करता है। इस दृष्टि से मामा वरेरकर ने मराठी साहित्य जगत् में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

ऐसा माना जाता है कि मामा के स्वर्गवास के साथ एक युग की समाप्ति हुई। तो यह बात सच है और नहीं भी। सच इस दृष्टि से की मामा के स्वर्गवास के साथ रूढार्थ से मध्यमवर्गीय साहित्य की अधिसत्ता का अंकित युग समाप्त हुआ। और सच नही भी इस लिए कि उनके चले जाने के बाद बहुजनवर्गीय साहित्य की नई क्रांतिकारी अधिसत्ता दृष्टिगत होने लगी। जिसकी पहल वस्तुत: मामा वरेरकर ने अपने साहित्य मे ही की थी। लेकिन मध्यमवर्गीय साहित्य ने नई क्रांतिकारी अधिसत्ता की पहल को नजरअंदाज किया जिसके कारण मामा के साहित्य की उपेक्षा हुई थी।

अब मध्यमुवर्गीय साहित्य के युगसमाप्ति के साथ मामा की साहित्यकृतियों की प्रेरणाएं और प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताएँ अधिक स्पष्टता के साथ दृष्टिगत होने लगीं। अगर एक ही वाक्य में मामा के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन करना हो तो यही कहा जा सकता है कि मामा वर्गीय दृष्टि से मध्यमवर्गीय लेखक होते हुए भी बहुजनवादी साहित्य के अग्रदूत थे। इसीलिए विद्यमान काल में उनके साहित्य का विशेष महत्त्व है।

सही अर्थ में मामा वरेरकर एक बहुमुखी प्रतिभावाले द्रष्टा युगपुरुष थे।

मामा वरेरकर की साहित्यकृतियाँ

(अ) उपन्यास

1. संसार की संन्यास (1911)
2. चिमणी (1926)
3. विधवाकुमारी (1928)
4. गोदू गोखले (1932) पूर्वार्ध
5. गोदू गोखले (1933) उत्तरार्थ
6. धावता धोटा (1933)
7. परतभेट (1934)
8. उघडझाप (1935)
9. कुलदैवत (1933)
10. विकारी वात्सल्य (1936)
11. उमलती कळी (1937)
12. वेणू वेलणकर (1937)
13. मलबार हिल अर्थात सौगडी (1938)
14. पेटते पाणी (1939)
15. भानगड गल्ली (1939)
16. गीता (1940)
17. तरते पोलाद (1940)
18. न पूजलेली देवता (1940)
19. सात लाखातील एक (1940)
20. फाटकी वाकळ (1941)
21. मी - राम जोशी (1941)
22. शिपायाची बायको (1943)
23. तोंडमिळवणी (1944)
24. द्राविडी प्राणायाम (1944)
25. झुलता मनोरा (1946)

26. लढाईनंतर (1947)

(ब) शरच्चंद्र चतर्जी के लिखे उपन्यासों के अनुवाद

1. चंद्रनाथ (1938)
2. श्रीकांत भाग 1 ते 4 (1939 ते 1941)
3. गावगंगा (1941)
4. भैरवी (1942)
5. माधवी (1943)
6. विजया (1943)
7. विराज वहिनी (1944)
8. पंडित महाशय (1944)
9. परिणीता (1944)
10. विप्रदास (1944)
11. अनुराधा, सती परेश (1946)
12. देवदास आणि बिंदूचे बाळ (1946)
13. शुभदा (1947)
14. अरक्षणीया (1947)
15. शेषप्रश्न (1947)
16. गृहदाह पूर्वार्ध व उत्तरार्ध (1948)
17. नवविधान (1948)
18. सव्यसाची (1948)
19. अखेरची ओळख (1948)
20. चरित्रहीन (1949)
21. छोटा भाई (1949)

(क) बंकिमचंद्र चतर्जी के लिखे उपन्यासों के अनुवाद

1. आनंदमठ (1952)
2. इंदिरा व युगलांगुरिया (1954)
3. कपालकुंडला (1954)
4. कृष्णकांताचे मृत्युपत्र (1954)
5. चंद्रशेखर (1954)
6. दुर्गेशनंदिनी (1954)
7. मृणालिनी (1954)

8. रजनी आणि राधाराणी (1954)
9. राजसिंह (1954)
10. विषवृक्ष (1954)
11. देवी चौधुराणी (1955)
12. सीताराम (1955)
(मूल उपन्यासों के अनुवाद संक्षेप में किये हैं।)

(इ) मामा वरेरकर की लिखी कहानियाँ के संग्रह

1. स्वैरसंचार (1932)
2. षोडशी (1936)
3. वैमानिक हल्ला (1938)
4. एकादशी (1944)

(फ) बंगाली कहानियाँ के अनुवाद

1. अभागीचा स्वर्ग, हरि लक्ष्मी महेश
(1948, मूल लेखक : शरच्चंद्र चतर्जी)
2. पथनिर्देश (1951, मूल लेखक शरच्चंद्र चतर्जी)
3. अनुपमेचं प्रेम (1958, मूल लेखक शरच्चंद्र चतर्जी)
4. एकविंशति (1960, मूल लेखक रवींद्रनाथ ठाकूर)

(ग) प्रभातकुमार मुकर्जी के उपन्यासों का अनुवाद

1. रत्नदीप (1955)
2. सौभाग्य (1955)
3. सत्यबाला (1956)

(ह) मामा वरेरकर की लिखी जासूसी कहानियाँ

1. दुर्जनांचा काळ (1951)
2. धूर्त एदलजी (1951)
3. युग किरण (1951)
4. घड्याळी घालमेल (1952)
5. तारकेचा खून (1952)
6. तोडीस तोड (1952)
7. पडकी छावणी (1952)

8. बिनवारशी वारस (1952)
9. महंताचा सूड (1952)
10. अंधारी कैदी (1952)
11. डिटेक्टिव्ह मोगरे (1952)
12. बडा भाई (1952)
13. बाहुलीचे गुपित (1953)
14. भिकाऱ्यांचा राजा (1953)
15. सर्कशीत खून (1953)

(य) मामा वरेरकर के लिखे नाटक

1. कुंजबिहारी (1914)
2. वरवर्गिनी अथवा सतीसावित्री (1914)
3. हाच मुलाचा बाप (1917)
4. संन्याशाचा संसार (1920)
5. सत्तेचे गुलाम (1922)
6. तुरुंगाच्या दारात (1923)
7. लयाचा लय (1923)
8. नवा खेळ (1924)
9. करग्रहण (1927)
10. करीन ती पूर्व (1927)
11. पतितपावन (1931)
12. पापी पुण्य (1931)
13. संसार (1932)
14. सोन्याचा कळस (1932)
15. जागती ज्योत (1933)
16. नामानिराळा (1933)
17. सदा बंदीवान (1933)
18. स्वयंसेवक (1937)
19. समोरासमोर (1937)
20. कोरडी करामत (1939)
21. उडती पाखरे (1941)
22. सारस्वत (1942)
23. माझ्या कलेसाठी (1942)

24. चला लढाईवर (1944)
25. न मागता (1944)
26. सिंगापुरातून (1944)
27. सिंहगड (1945)
28. संन्याशाचे लग्न (1945)
29. जिवाशिवाची भेट (1950)
30. दौलतजादा (1950)
31. द्वारकेचा राजा (1952)
32. अपूर्व बंगाल (1953)
33. भूमिकन्या सीता (1955)
34. लंकेची पार्वती (1955)
35. संजीवनी (1960)

(र) नाट्यकृतियों के अनुवाद

1. चंद्रशेखर अथवा समर्थ भिकारी (1934, मूल लेखक विल्सन बॅरेट)
2. तिलाच ते कळतं (1951, मूल लेखक जेम्स बैरी)
3. ठाकुरांची नाटके (1962, मूल लेखक रवींद्रनाथ ठाकूर)
4. वनहंसी (1962, मूल लेखक हेन्रिक इब्सेन)
5. खेळघर (1964, मूल लेखक हेन्रिक इब्सेन)

(ल) मामा वरेरकर के लिखे एकांकी नाटक

1. कडकलक्ष्मी (1944)
२. जागलेली आई (1950)
3. तीन एकांकिका (1950)
4. वरेरकरांच्या एकांकिका - 1 (1961)
5. वरेरकरांच्या एकांकिका - 2 (1961)

(व) भाषणसंग्रह

1. आघात (1936)
2. महाराष्ट्र साहित्यसंमेलन, धुळे 1944

(श) मामा वरेरकर की लिखी आत्मकथा

1. माझा नाटकी संसार, खंड 1 ला (1941)

2. माझा नाटकी संसार, खंड 2 रा (1952)
3. माझा नाटकी संसार, खंड 3 रा (1959)
4. माझा नाटकी संसार, खंड 4 था (1962)

(स) अन्य लेखन

1. निबंधमाला, खंड 2 रा (1964 मूल लेखक रवींद्रनाथ ठाकूर)
2. गजानन स्मृति (1928)

संदर्भग्रंथ

1. मामा वरेरकर की उपलब्ध साहित्यकृतियाँ
2. निवडक वरेरकर, संपादक - डा. सदा कऱ्हाडे (1983)
3. प्रदक्षिणा (1968)
4. कालचे नाटककार; कानडे मु. श्री. (1967).
5. नाटककार वरेरकर; बैतुले मा. के. (1957)
6. वरेरकरांच्या कादंबऱ्या; मोहरीर भ. प्र. (1957)
7. वरेरकर आणि रंगभूमि; गोमकाळे द. रा. (1958)
8. मराठी कादंबरीचे पहिले शतक, कुसुमावती देशपांडे
9. लोकराज्य - विशेषांक
10. लहर - मामा वरेरकर अंक, मई-जून 1965.